खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास

महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास

खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास

महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

अ० भा० श्री जैन श्वे० खरतरगच्छ महासंघ
दिल्ली

खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास

महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

सम्पादक :

भँवरलाल नाहटा

प्रकाशक :
अखिल भारतीय श्री जैन श्वे० खरतरगच्छ महासंघ
१००४-मालीवाड़ा, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण : १९९०
मूल्य : ३० रुपये

मुद्रक :
सुराना प्रिन्टिग वर्क्स
२०५, रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-७

Kharatar-Gachchha Ka Adikaleen Itihas/Mahopadhyay Chandra-Prabh-Sagar/Akhil Bharatiya Sri Jain Swetamber Khartar-Gachchha Maha Sangh, Delhi/1990/Rs. 30/-

मणिधारी मेला नई दिल्ली १६ सितम्बर, १९९१

ग्रंथ विमचन के अवसर पर अपने उद्‌गार प्रगट करते हुए माननीय डा० बलराम जाखड़, केन्द्रीय कृषि मंत्री साथ में महासंघ अध्यक्ष श्री हरखचन्द नाहटा, महामंत्री श्री सुनील श्रीमाल, दादाबाड़ी प्रबन्धक श्री महेन्द्र भंसाली तथा श्री महेन्द्र डोसी

'खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास' ग्रंथ को लोकार्पण करके अध्यक्ष श्री नाहटा को प्रति भेंट करते हुए केन्द्रीय मंत्री डा० जाखड़

अनुक्रम

प्रकाशकीय V-VI
स्वकथ्य VII-XIII

प्रथम खण्ड

खरतरगच्छ : एक सिंहावलोकन १-४८

जैन धर्म-१, जैन धर्म में परम्परा-भेद-२, भेदोपभेद-२, खरतरगच्छ का प्रवर्तनः एक पूर्व भूमिका-६, खरतरगच्छ का वैशिष्ट्य-८, शिथिलाचार का उन्मूलनः एक क्रान्तिकारी चरण-९, शास्त्रीय विधानों की पुनर्स्थापना-१२, शास्त्रार्थ-कौशल-१६, यौगिक शक्ति-प्रयोग-१६, नरेशों को प्रतिबोध-१७, जैन संघ का व्यापक विस्तार-१९, गोत्रों की स्थापना-२०, प्रखर साहित्य-साधना-२५, साम्प्रदायिक सहिष्णुता-४०, अन्य विशेषताएँ-४४

द्वितीय खण्ड

खरतरगच्छ का आदिकाल ४९-७८

खरतरगच्छ का काल-क्रमानुसार वर्गीकरण-५२, खरतरगच्छ का आदिकाल-५३, चैत्यवासी-परम्परा-५३, चैत्यवासीः शिथिल साध्वाचार के अनुगामी-५४, खरतरगच्छ का उद्भव-५९, शास्त्रार्थ-विजय : क्रान्ति का पहला चरण-६०, शास्त्रार्थ-विजयी : वर्धमान या जिनेश्वर ? ६५ खरतर-नामकरण-६७, खरतर-गच्छ का उद्भव-काल-७१

तृतीय खण्ड

खरतरगच्छ के आदिकालीन ऐतिहासिक पुरुष — ७६-२४३

खरतरगच्छ की गुरु-परम्परा-८१, खरतरगच्छ के आदिकालीन ऐतिहासिक पुरुष-८२, अमृत-पुरुष आचार्य वर्धमानसूरि-८४, महामहिम क्रान्तदर्शी आचार्य जिनेश्वरसूरि-८६, महावैयाकरण आचार्य बुद्धिसागरसूरि-१०४, महत्तरा कल्याणमति-१०७, महाकवि धनपाल-१०८, महाप्रज्ञ आचार्य जिनचन्द्रसूरि-११२, शासन-धन आचार्य धनेश्वरसूरि-११६, अमेय मेधा-सम्पन्न आचार्य अभयदेवसूरि-११७, दिव्य विभूति आचार्य देवभद्रसूरि-१४२, अर्हन्नीति-संयोजक आचार्य जिनवल्लभसूरि-१४४, विद्वत्रत्न आचार्य हरिसिंहसूरि-१६८, प्रबुद्ध-चेता गणि रामदेव-१६८, जिनशासन-सेवी पद्मानन्द-१६६, सम्मान्य आचार्य अशोकचन्द्रसूरि-१७०, जगत्पूज्य आचार्य जिनदत्तसूरि-१७१, जिनशासन-शिरोमणि आचार्य जिनशेखरसूरि-२०१, मणिधारी आचार्य जिनचन्द्रसूरि-२०२, महावादजयी आचार्य जिनपतिसूरि-२११, महामनीषी उपाध्याय जिनपाल-२२२, श्रावक-रत्न नेमिचन्द्र भाण्डागारिक २२५, शासन-प्रभावक आचार्य जिनेश्वरसूरि (द्वितीय)-२२६, धर्मानुरागी श्रेष्ठि अभयचन्द्र-२३६, उपसंहार-२४०

प्रकाशकीय

जैनधर्म अपनी मौलिकताओं एवं नैतिक मापदण्डों की स्थापना के लिए विश्व-विख्यात है। खरतरगच्छ एक क्रान्तिकारी अभियान है, जिसकी बुनियाद जैनधर्म की प्रतिष्ठा को जर्जर होने से बचाता है। खरतरगच्छ शिथिलाचार की विकराल होती दानवीय छाया के लिए चुनौती बनकर उभरा। इसलिए यह गच्छ अपने-आप में एक क्रान्तिरथ है, जिस पर पूजनीय आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि, युगप्रधान जिनदत्तसूरि जैसे महामहिम/धर्मरथिकों ने आरूढ़ होकर श्रमण-जीवन में प्रविष्ट तमस् वातावरण को अपनी प्रखर किरणों से चीरकर प्रामाणिकता/मौलिकता/स्वच्छता का कीर्तिमान स्थापित किया। इस प्रकार इस गच्छ ने जैनधर्म को नया नेतृत्व प्रदान किया। इसलिए इसका इतिहास जैनधर्म की धुंधली/सुधरी छवि को पेश करता हुआ अपनी निरन्तर प्राप्त सफलताओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। जरूरत है इसे रू-ब-रू ऐतिहासिक ढंग से उपस्थापित करने की। प्रस्तुत इतिहास उसी जरूरत की एक आंशिक, किन्तु उच्चस्तरीय अभिनव पूर्ति है।

खरतरगच्छ के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले अब तक कुछ प्रयास हुए हैं। हर प्रयास अपने-आप में एक-से-एक अच्छे थे। पर इतिहास और शोध का क्षेत्र विशिष्ट शैली एवं दृष्टि की अपेक्षा रखता है। प्रस्तुत इतिहास के लेखक प० पू० महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभसागर जी खरतरगच्छ के मूर्धन्य विद्वानों में हैं। उन्होंने खरतरगच्छ को 'अवढ़र दानी' बनकर बहुत कुछ दिया है। उन्होंने इस खन के लिए हमारे साग्रह निवेदन को स्वीकार किया और प्रस्तुत इतिहास को लिखकर उन्होंने खरतरगच्छ के प्रारम्भिक घटना-क्रमों को जो शोधपरक शब्द-शैली दी है, वह हमारी आवश्यकता की अपेक्षित सम्पूर्ति है। महासंघ उनके इस लेखनकार्य के लिए कृतज्ञ है।

इतिहास के प्रकाशन/मुद्रण में हमें विद्वत्‌रत्न श्री भँवरलाल जी नाहटा; समाज-रत्न श्री ज्ञानचन्द जी लूणावत, कलकत्ता; श्री आशकरण जी गुलेछा,

मद्रास; श्री प्रकाशकुमारजी दफ्तरी, कलकत्ता आदि महानुभावों का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है। हम सभी सहयोगी-सज्जनों के प्रति अपनत्व दर्शाते हुए धन्यवाद-ज्ञापन करते हैं।

आशा है, इस इतिहास को खूब पढ़ा/सराहा जाएगा और जीवन की गतिविधियों में प्रशमरतित्व की खरतरता/प्रखरता को प्रतिष्ठित कर ज्योतिर्मयता को साकार किया जाएगा।

राजेन्द्रकुमार श्रीमाल
संयोजक
इतिहास प्रकाशन समिति,
अ. भा. श्री जैन श्वे. खरतरगच्छ महासंघ.

स्वकथ्य

जीवन अतीत, वर्तमान और भविष्य का समन्वय है। अतीत में घटित घटना-क्रम वर्तमान को प्रेरित और उद्‌बोधित करते हैं। उद्‌बोधित वर्तमान द्वारा साधित/सम्पादित कार्य-कलाप उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करते हैं। यह शृंखला यदि सुसंगत बनी रहे तो जीवन में एक ऐसा सौष्ठव आता है जो उसे सार्थकता प्रदान करता है। इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम चिन्तन करें तो इतिहास का सामाजिक, लौकिक और सांस्कृतिक जीवन की उन्नति में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मानव बड़ा विस्मरणशील है। जितना शीघ्र वह उत्प्रेरित और स्फूर्त होता है, उतना ही शीघ्र वह भूल भी जाता है। वह न भूले, यह आवश्यक है। स्मृति बनाये रखने में इतिहास सहायक है। वह एक ऐसा झरोखा है, जिससे झाँककर मनुष्य अपने अतीत के क्रिया-कलापों का जीवन्त दृश्य देख सकता है।

यह कुछ खेद का विषय है कि हम भारतीयों में इतिहास के प्रति जागरूक-भाव कम रहा, जिसका परिणाम आज विद्या के क्षेत्र के अनेक सन्दर्भों में निराशा उत्पन्न करता है। अनेक ग्रन्थकारों, विद्वानों, शासकों, दानवीरों, धर्मवीरों, कर्मवीरों का प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध न होने के कारण केवल कल्पनाओं, किंवदन्तियों और जनश्रुतियों का आधार लेकर आगे बढ़ना पड़ता है। यद्यपि त्यागतपोनिष्ठ महापुरुषों का यह भाव कि अपना व्यक्तिगत परिचय क्या दें, कार्य ही उनका परिचय हो, एक अपेक्षा से गरिमापूर्ण तो है, किन्तु इतिहास की अक्षुण्णता इससे बाधित होती है। इस भाव की उपादेयता वैयक्तिक है, सामूहिक या सामष्टिक जीवन में इससे परम्परा की अक्षुण्णता नहीं बनी रहती, अपितु एक रिक्तता आ जाती है। अतः आज के बौद्धिक युग में जीने वाले हम लोगों को चाहिये कि इतिहास को जरा भी खोने न दें और पुरातन इतिहास को सँजोए रहें, जिससे जीवन की सामष्टिक समृद्धि विकसित होती जाए। ऐसी ही कुछ प्रेरणाओं के परिणामस्वरूप खरतरगच्छ के इतिहास को लिखने का प्रसंग उपस्थित हुआ।

जैन-परम्परा अपने-आप में एक क्रान्ति है। जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा आदि सभी सन्दर्भों की बद्धमूल रूढ़ धारणाओं में जैन संस्कृति ने जो अभिनव उन्मेष किया, वह उसकी सजीव चेतना का परिचायक है। गुण-निष्पन्नता

या यथार्थता को मूल आधार मानकर जैन चिन्तकों ने सत्य की स्थापना और प्रख्यापना की।

परम्परा, संस्कृति, सभ्यता एक समष्टि है, जिसकी न्यूनतम इकाई व्यक्ति है। व्यक्तियों के समवाय के विभिन्न विकास इनके रूप में प्रस्फुटित होते हैं, जो सांस्कृतिक अधिष्ठान का रूप ले लेती है। व्यक्ति सदा एक-सा बना रहे, उसकी भावनाएँ, चिन्तनधाराएँ, कार्यकलाप अपरिवर्तित रहें, यह सम्भव नहीं है। समय, परिस्थितियाँ, लोक-धारणाएँ इत्यादि अनेक कारणों से व्यक्ति प्रभावित होता है। प्रभाव दो प्रकार के होते हैं—ऊर्ध्वगामी और निम्नगामी। व्यक्ति की निम्नगामिता धर्म, संस्कृति, समाज, साहित्य सब पर प्रभाव डालती है। तब धर्म के सिद्धान्तों को लोग ह्रासोन्मुख मानसिक मापदण्ड से मापने लगते हैं। मूल शब्दावली को बदल पाने का साहस तो उनमें नहीं होता, किन्तु विकृत व्याख्याओं द्वारा वे धर्म के सिद्धान्तों को अपने मनोनुकूल ढाँचे में, साँचे में ढालने लगते हैं। उनके आधार पर अपने आचार और क्रिया-कलाप को, जिसमें निम्नत्व व्याप्त होता है, शुद्ध/अदूषित बताने की विडम्बना करने लगते हैं। वैसा युग सांस्कृतिक ह्रास या अवनति का युग होता है। अत्यन्त ऊर्ध्वगामी जैन समाज ने ऐसे युग भी देखे हैं।

जब हम छठी-सातवीं शताब्दी के परवर्ती धार्मिक जीवन पर विहंगावलोकन करते हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि एक अधोमुखी धारा प्रवहणशीला होती जा रही थी, जो वस्तुतः जैन धर्म के उज्ज्वल रूप को धूमिल बनाने लगी। यह धारा नौवीं-दसवीं शताब्दी तक काफी जोर पकड़ चुकी थी। श्रावकों के बारे में तो क्या कहें, श्रमण-वर्ग भी इस धारा में बह गया।

जैन धर्म के मुख्य दो अंग हैं—श्रमण और श्रावक। श्रमण मार्गदर्शक, धर्मपथ का निर्देशक होता है। श्रावक श्रमण से सुनकर, समझकर एक धार्मिक जीवन-सरणि अपनाता है। इस परिप्रेक्ष्य में श्रमण का कितना भारी दायित्व है, यह बताने की बात नहीं है। उसकी आस्था, धारणा और चिन्तना के आधार पर सारा गृही-समाज चलता है। उसके अपने साथी तो उसके अनुरूप होते ही हैं। इतने भारी उत्तरदायित्व का संवहन करने वाला व्यक्ति यदि अपनी भूमिका गँवा बैठता है, तुच्छ भौतिक एषणाओं के लिए संयम और साधना के पवित्र धर्म को नीचे उतारने लगता है, तो एक ऐसी विडम्बना अस्तित्व में आती है, जिससे फूटने वाले विकार समाज के सांस्कृतिक, धार्मिक जीवन की रीढ़ को तोड़ डालते हैं।

बड़ा दुःखद हुआ, किन्तु जैन परम्परा में ऐसा हुआ, शिथिलाचार बढ़ा, बुद्धि द्वारा उसे समर्थन देने की प्रवृत्ति पनपी, जो उससे भी कहीं अधिक घातक थी। शास्त्रों के अर्थों को तोड़ा-मरोड़ा गया, आचार-विचार में इतना परिवर्तन कर दिया कि जैन-संस्कृति एवं आचार-परम्परा विलुप्त होने लगी। चैत्यवास आदि इसके अनेक रूप थे। जिस श्रमण के लिए वायुवत् अप्रतिबद्ध विहारी का विशेषण प्रयुक्त होता रहा है, वह यदि खान-पान, रहन-सहन आदि की सुख-सुविधाओं के रोग में ग्रस्त हो चैत्यों में सिमट जाये, वहीं रहने लगे। नर्तकियों के नृत्य तक देखने लगे, क्या जैन परम्परा का यह अति विकृत रूप नहीं है? कतिपय भाष्यों, चूर्णियों में ऐसे संकेत मिलते हैं, जिन्हें देखकर आँखों से आँसू ढुलक पड़ते हैं कि ओह! एक विशुद्ध धार्मिक परम्परा/उत्कृष्ट आचारवान् धारा में लोगों ने यों मल घोला! पर कौन क्या कहे, ऐसा हुआ। हुआ भी तब बहुलता से बहुलता प्रभावकारी होती है। यदि यह असत् भी हो तब भी चैत्यवासियों का समाज पर दबदबा और प्रभाव था। उनको उनके आचार के सम्बन्ध में उनके द्वारा अपने आचार को दिये जाते समर्थन के सन्दर्भ में किसी को कुछ बोलने का साहस नहीं था। यदि कोई प्रबुद्धजन जो जैन तत्त्वज्ञान और आचार का कुछ परिचय रखता रहा हो, इस विसंगति को आँक पा रहा हो, तो भी पर्वत से कौन टकराए, यह सोचकर कुछ कह पाने की हिम्मत नहीं कर पाता रहा हो।

एक और बात है, उस पर भी जरा सोचें, लौकिकजन अपने लौकिक कार्यों में इतने रचे-पचे रहते हैं कि वे धार्मिक तत्त्वों और आचार की गहराई में जाने का उत्साह नहीं दिखाते। कल्पित परितोष के लिए वे इतना-सा मानकर समाधान कर लेते हैं कि जैसे भी हों, अपने से तो ये कहीं अच्छे हैं, ऊँचे हैं, कुछ तो त्यागा-छोड़ा है। यद्यपि यह समाधान एक भूल-भूलैया है, किन्तु अधिक लोग प्रायः भूल-भूलैया में ही रहते हैं।

सभी युगों में कुछ ऐसे उत्क्रान्त-चेतना के धनी व्यक्ति होते रहे हैं, जो युगीन प्रतिकूलताओं, बाधाओं, विपदाओं की परवाह न करते हुए सत्य पर जमी कालिख को धो देने के लिए अड़ जाते हैं। 'कार्यम् वा साधयामि, शरीरम् वा पातयामि'—'करूँ या मरूँ' का संकल्प लिये वे असत् को चुनौती देते हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शदी इस दृष्टि से निश्चय ही गरिमामयी है, जिससे न केवल मनीषी, वरन् मनस्वी उत्पन्न किये, जो अमल-धवल जैन संस्कृति, धर्म, दर्शन और जीवन-सरणि पर परिव्याप्त कालिमा पर अकुला

उठे, झुंझला उठे। अकुलाहट और झुंझलाहट तब तक कुछ करिश्मा पैदा नहीं करती, जब तक उसके साथ आत्म-शक्ति, अन्तःस्फूर्ति, अन्तर-ज्योति का सम्बल न हो। कुछ करना तो दूर रहा, वह अकुलाहट अपने संवाहक की अन्तश्चेतना को बुझा भी डालती है।

जिन महापुरुषों की हम बात करने जा रहे हैं, उनमें अन्तर-ज्योति की तीव्रता/प्रखरता थी। अतएव उनकी आकुलता ने एक ऐसी क्रान्ति का सर्जन किया, जिसने धार्मिक-जगत् को सहसा झकझोर डाला। उन्होंने निम्नगामी प्रवहणशीला धारा को रोका ही नहीं, अपितु उसे ऊर्ध्वगामी भी बनाया। यह ऊर्ध्वगामिता वस्तुतः जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप तक पहुँची। वास्तव में खरतरगच्छ एक क्रान्तिकारी आन्दोलन है, जैनधर्म का सुधारवादी प्रातिनिधिक आम्नाय है, जिसने विपथगामी धर्म के रथ को सन्मार्ग पर लाने का अप्रतिम पुरुषार्थ किया। यानी पटरी से उतरी हुई गाड़ी को पुनः पटरी पर चढ़ा दिया। हमने प्रस्तुत इतिहास में खरतरगच्छ के जिन व्यक्तित्वों को आकलित किया है, वे वस्तुतः खरतरगच्छीय इतिहास के आदि बीज हैं, जिनके आधार पर खरतरगच्छ का बहुशाखी वटवृक्ष फला/फूला/विकसा। जिसकी सघन छाया में लक्ष-लक्ष/कोटि-कोटि धर्म-प्राण नर-नारियों ने विश्रान्ति की, आत्म-शान्ति की अनुभूति की।

'खरतर' शब्द अपने-आप में बड़ा विशद, सूक्ष्म और गरिमापूर्ण अर्थ लिये है। 'खर' का अर्थ तीव्र, तेजोमय, गतिमय, शक्तिमय है। संस्कृत का 'तरप्' प्रत्यय, जिसका 'तर' अवशिष्ट रहता है, 'खर' के आगे जुड़कर उसकी तीव्रता, गतिमयता, शक्तिमत्ता को और बढ़ा देता है। बड़ा प्रेरणाप्रद है यह शब्द, जिसने युग-युग तक धर्मानुप्राणित समाज को स्फूर्ति प्रदान की।

जैन दर्शन न केवल ज्ञानवादी है, न केवल क्रियावादी है, वहाँ '*ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः*' *के रूप में जीवन में ज्ञान और क्रिया—दोनों का अनिवार्य* स्थान है, जिनका विशद रूप सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र के रूप में प्रस्फुटित होता है। इन्हीं के अनुशीलन से जीवन की समग्रता सधती है। खरतरगच्छ में प्रारम्भ से ही ज्ञान और क्रिया दोनों पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। वस्तुतः इनके उद्भावन और अभ्युदय के लिए ही खरतरगच्छ अस्तित्व में आया।

महामहिम आचार्य जिनेश्वरसूरि इस आध्यात्मिक क्रान्ति के सूत्रधार बने। जहाँ वे महान् शास्त्रवेत्ता, तार्किक एवं चिन्तक थे, वहीं उतने ही

पवित्र/विशुद्ध आचारवन्त थे। वह ऐतिहासिक प्रसंग, जहाँ अणहिलपुर पत्तन में वहाँ के राजा दुर्लभराज और सम्भ्रान्त जनों की सन्निधि में चैत्यवासियों के साथ आचार-परीक्षण, जीवन-परीक्षण, चर्यानुशीलन आदि के सन्दर्भ में न केवल विचार-मन्थन हुआ, अपितु साक्षात् पर्यावलोकन भी हुआ, वहाँ सबको इनके विद्या-जीवितव्य और चारित्र-जीवितव्य की सच्चाई ने भी प्रभावित किया। ऐतिहासिकों के अनुसार राजा द्वारा आचार्यवर के लिए अभिहित 'खरतर' शब्द उनके जीवन की वैचारिक और कार्मिक पवित्रता का संवाहक बन गया, जो उनके आध्यात्मिक शक्ति-पुंज पर टिकी थी। व्याकरण द्वारा प्रस्तुत अर्थ ने सहज ही अपनी संगति साध ली।

खरतरगच्छ जैन-परम्परा का वह ज्योतिर्मय आम्नाय है, जिसने आचार्य अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, मणिधारी जिनचन्द्रसूरि, जिनकुशलसूरि, अकबर-प्रतिबोधक जिनचन्द्रसूरि, महोपाध्याय समयसुन्दर, योगीराज आनन्दघन, उपाध्याय देवचन्द्र जैसे प्रखर प्रज्ञा एवं गहन साधना के धनी सृजनशील महापुरुषों को जन्म दिया, जिन्होंने न केवल जैन-परम्परा को वरन् भारतीय चिन्तनधारा और जीवन-धारा को एक नया आलोक दिया, पद-दर्शन दिया। साध्वीवर्ग में प्रवर्तिनी विचक्षणश्री जैसी महिमामण्डित आदर्श साध्वी और गृहस्थों में करमचन्द बच्छावत जैसे योद्धा एवं मन्त्री, नाहटा मोतीशाह सेठ और रायबहादुर बद्रीदास जौहरी जैसे दानवीर और अगरचन्द नाहटा जैसे राष्ट्रीय स्तर के साहित्य-सेवी इसी गच्छ की देन है। सचमुच, वे सब भारतीय इतिहास के शाश्वत प्रकाश-स्तम्भ बन गये।

अपरिमित ज्ञान-सम्पदा के धनी आचार्य अभयदेवसूरि को कौन भूल सकता है, जिनके द्वारा लिखित नव अंग आगमों की टीकाएँ हमें उपलब्ध हैं। उनका कितना बड़ा उपकार रहा धार्मिक जगत् पर। इसी प्रकार महामहिम दादा गुरुदेवों का भी राजाओं और प्रजाजनों—सबको धार्मिक उपदेश देने की दृष्टि से, सामुदायिक रूप में, जातीय रूप में, आध्यात्मिक एवं चारित्रिक ज्योति जगाने की दृष्टि से जो अकथनीय/अप्रतिम योगदान रहा है, क्या कभी भुलाया जा सकता है? आज ऐसे हजारों-लाखों लोग हैं, जिनके रोम-रोम में दादा गुरुदेवों के प्रति श्रद्धा और आस्था बसी है। आज जैनधर्म में जहाँ एक भी व्यक्ति को दीक्षित कर पाना भारी दुष्कर प्रतीत होता है, वहाँ जरा कल्पना कीजिए, कितनी प्रभावकता इन महापुरुषों में थी कि उन्होंने लाखों-के-लाखों व्यक्तियों को जैनधर्म में परिणत किया।

कितनी उदारता थी उनकी ! जिनको भी उन्होंने जैनत्व में परिवर्तित किया, वहाँ उन्हें समग्र जैनत्व से जोड़ा है, न कि मात्र अपने गच्छ से। यह खरतरगच्छ की उदारवादिता का अनुपम उदाहरण है। इसी प्रकार अन्यान्य सन्दर्भों में भी खरतरगच्छ की नीति सदैव असंकीर्ण और व्यापक रही।

'राजा नो ददते सौख्यम्' इस वाक्य के आठ अक्षरों को लेकर आठ लाख अर्थों के परिज्ञापक ग्रन्थ-रत्न 'अष्टलक्षी' महाकाव्य के निर्माण करने वाले महान् विद्वान् समयसुन्दर के समकक्ष कोई और लेखक न केवल भारत का वरन् विश्व का वाङ्मय भी दे सका है !

विस्तार से पाठक इतिहास में पढ़ेंगे ही, केवल इतना-सा इंगित करना पर्याप्त होगा कि साहित्य, दर्शन, न्याय, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित प्रभृति अनेक विषयों पर खरतरगच्छ के आचार्यों, मुनियों और मनीषियों ने सहस्रों-सहस्रों ग्रंथों की रचना की। ज्ञान की इस उदग्र आराधना के साथ-साथ वे परम क्रियानिष्ठ रहे। ज्ञान और क्रिया के समन्वय के क्रान्ति घोष को लेकर इस गच्छ का उद्भव हुआ। 'ज्ञात सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान' यही इस गच्छ का प्रमुख उद्घोष था। वह उद्घोष कभी मन्द नहीं पड़ा। इन्हीं सब बातों का लेखा-जोखा इतिहास का विषय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस आम्नाय के इतिहास का प्रथम खण्ड है, जिसमें खरतरगच्छ के आदिकाल का विवेचन है। मैंने खरतरगच्छ को अभ्युदय, विकास और अभिवर्धन की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया है—आदिकाल, मध्यकाल और वर्तमान काल। ग्यारहवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक का समय मैंने आदिकाल में परिगृहीत किया है। देश की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति, जैन धर्म का प्रचलित रूप, क्रान्ति की आवश्यकता इत्यादि की पृष्ठभूमि पर उद्भूत खरतरगच्छ के रूप में आध्यात्मिक क्रान्ति-अभियान का लेखा-जोखा, इन तीन शताब्दियों के अन्तर्गत उत्तरोत्तर बढ़ते प्रगति-चरण, सर्जित ठोस-कार्य इत्यादि का विवरण प्रस्तुत करने का इस ग्रन्थ में प्रयास रहा है। लेखन में दृष्टिकोण नितान्त ऐतिहासिक रहा है। जिन-जिन विषयों में ठोस प्रमाण प्रस्तुत हुए हैं, उन्हीं को प्रामाणिक रूप में उपस्थित करने का मेरा उपक्रम रहा है। जन-श्रुतियों या किंवदन्तियों को उनके अपने रूप से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है, ऐतिहासिकता के ढाँचे में उन्हें नहीं ढाला है।

निश्चय ही खरतरगच्छ का आदिकाल न केवल इस गच्छ के वरन्

दसवीं शताब्दी की उत्तरवर्ती आर्हत्-परम्परा के ज्ञान एवं साधना की दृष्टि से स्वर्णिम काल कहा जाये तो कोई अतिरंजन नहीं होगा। हमें आशा ही नहीं, अपितु पूरी आस्था है कि खरतरगच्छ के आदिकालीन इतिहास के घटनाक्रम जनमानस में श्रुत-प्रधान और संयम-प्रधान धर्म की प्रेरणा जगायेंगे। खरतरगच्छ का मध्यकालीन और वर्तमान कालीन इतिहास भी यथासमय प्रकाश में आयेंगे, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत इतिहास-प्रबन्ध को मूर्त रूप देने में अनेक लोग निमित्त बने। आचार्यप्रवर श्री जिनकान्तिसागरसूरीश्वरजी के आशीर्वाद ने दीप बनकर मेरे कार्य-पथ को प्रशस्त किया। गणिवर श्री महिमाप्रभसागरजी एवं अ० भा० श्री जैन श्वे० खरतरगच्छ महासंघ इतिहास-लेखन के प्रेरणा-स्रोत रहे। श्री भँवरलालजी नाहटा, दौलतसिंहजी जैन, मोहनचन्दजी ढढा, आशकरणजी गुलेछा, ज्ञानचन्दजी लूणावत, राजेन्द्रकुमारजी श्रीमाल आदि महासंघ-सदस्यों के आग्रह ने व्यस्तताओं के बावजूद मुझसे इसकी सम्पूर्ति करवा ली। प्रकाश कुमारजी दफ्तरी का तो लेखन से प्रकाशन तक सार्वभौम सहयोग मिला।

बन्धुवर श्री ललितप्रभसागरजी का प्रस्तुत लेखन-कार्य में अग्रयोग रहा। इतिहासविद् श्री भँवरलालजी नाहटा एवं कलम के सिपाही श्री गणेश ललवानी ने इस ग्रंथ का पुनरावलोकन एवं मुद्रण-शोधन किया।

मैं उन सभी के प्रति सद्भावना व्यक्त करता हूँ, जिनकी इस लेखन-प्रकाशन में प्रत्याक्षाप्रत्यक्ष सक्रियता रही।

प्रणत हूँ उन इतिहास-पुरुषों के प्रति, जो इस ग्रन्थ के नायक हैं।

१ जनवरी '९०

—चन्द्रप्रभ

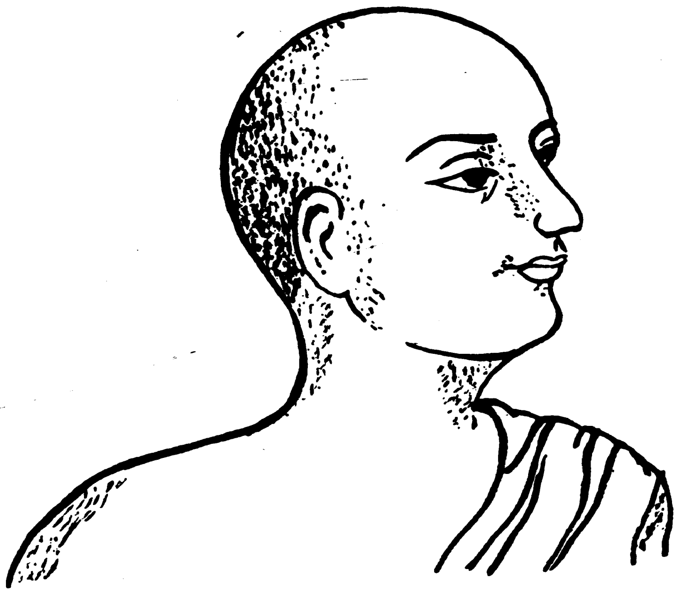

महामहिम आचार्य जिनेश्वरसूरि
(खरतरगच्छ के प्रवर्तक)

प्रथम खण्ड

खरतरगच्छ : एक सिंहावलोकन

जैनधर्म

जैन धर्म परम श्रेय के प्रति समर्पित एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इसने सदा वे ही मापदण्ड अपनाये हैं, जिनमें जीवन के नैतिक मूल्यों को संवहन करने की शक्ति है। कमल की भाँति निर्लिप्त जीवन जीने की कला सिखाने वाला यही धर्म है। यह जीवन, गणित एवं विज्ञान की विजय का एक चिरस्थायी अद्भुत स्मारक है।

इस धर्म-परम्परा को जीवित एवं विशुद्ध बनाये रखने के लिए समय-समय पर अनेक अमृत-पुरुष हुए, जिन्होंने तीर्थंकर और आचार्य पदस्थ होकर धर्मसंघ को स्थापित एवं संचालित किया। भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक हुए तीर्थङ्करों एवं आचार्यों ने इस धर्म के प्रवर्तन तथा प्रसारण हेतु उल्लेखनीय भूमिका निभाई। चक्रवर्ती भरत, सनत्कुमार, श्रीकृष्ण, श्रेणिक, चेटक, कोणिक, उदायी, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, कुमारपाल, खेमराज आदि नरेशों का इस धर्म के प्रचार-प्रसार में महत् अनुदान है। वस्तुतः आचार्यों, मुनियों, साध्वियों, राजाओं, श्रावकों, श्राविकाओं के सामूहिक अथक् योगदान के फलस्वरूप ही इस धर्म का अस्तित्व निरन्तर बना रहा।

जैन धर्म में परम्परा-भेद

जैन धर्म मुख्यतः दो परम्पराओं में विभक्त है—श्वेताम्बर एवं दिगम्बर। यह भेद एवं नामकरण मुख्यतः वस्त्र-सापेक्ष है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दिगम्बर-मत का अभ्युदय विक्रम संवत् १३६ में हुआ और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार श्वेताम्बर-मत का आविर्भाव विक्रम संवत् १३६ में हुआ था। यह अभी तक शत-प्रतिशत निर्धारित नहीं हो पाया है कि दोनों परम्पराओं में पहले श्वेताम्बर-मत स्थापित हुआ या दिगम्बर-मत।

भेदोपभेद

जैन-धर्म-संघ में यत्किंचित मान्यता भेद को लेकर छोटी-बड़ी कई परम्पराएँ पनपीं। न केवल पनपीं, अपितु काफी फली-फूली भी। वे विविध परम्पराएँ गण, कुल, गच्छ, शाखा, समुदाय आदि रूपों में विकसित हुईं। इनमें गण सर्वाधिक मुख्य एवं प्राचीन है। तीर्थङ्करों के प्रधान शिष्य गणधर कहलाते थे। वे गण की व्यवस्था का दायित्व निभाते थे।

एक गण में अनेक कुल और शाखाएँ हुआ करती थीं। भगवान् महावीर के शासन-काल में जो-जो गण आदि हुए, उनका लेखा-जोखा काफी विस्तृत है। स्थानांग सूत्र के नौवें अध्याय में एवं कल्पसूत्र के स्थविरावली-खण्ड में उन गणों की चर्चा हुई है।

कल्पसूत्र में प्राप्त उल्लेख विस्तृत एवं प्रामाणिक हैं। इसमें भगवान् महावीर के *नौ गण* और *ग्यारह गणधरों* पर प्रकाश डालते हुए महावीर की परम्परा आर्य सुधर्म से स्वीकार की है। महावीर की परम्परा में हुए आर्य सुधर्म, जम्बू, प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, वज्र, फल्गुमित्र, देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कल्पसूत्र में प्रमुख पट्टधरों का वर्णन करते हुए उनसे निःसृत कुल, गण

और शाखाओं पर जो प्रकाश डाला गया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

गण नौ हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) गोदासगण, (२) उत्तर-बलिस्सह गण, (३) उद्देहगण, (४) चारण-गण, (५) उडुपाटित गण, (६) वेशपाटिक गण, (७) कामर्द्धि गण, (८) मानव-गण और (९) कोटिक-गण।

गोदासगण की चार शाखाएँ इस प्रकार हैं—(१) ताम्रलिप्तिका, (२) कोटिवर्षीया, (३) पौण्ड्रवर्द्धनिका, और (४) दासीकर्पटिका।

उत्तरबलिस्सह गण की चार शाखाएँ इस प्रकार हैं—(१) कौशाम्बिका, (२) सौमित्रिका, (३) कोटुम्बिनी और (४) चन्दनागरी।

उद्देहगण से चार शाखाएँ निकलीं—(१) औदुम्बरिया, (२) मासपूरिका, (३) मति पत्रिका, (४) सुवर्णपत्रिका। इस गण से छह कुल जनमे—(१) नागभूत, (२) सोमभूतिक, (३) आर्द्र कच्छ, (४) हस्तलीय, (५) नान्दिक और (६) पारिहासिक।

चारण गण से निम्न चार शाखाएँ पनपीं—(१) हारित-मालागारिक, (२) संकाशिका, (३) गवेधुका, (४) वज्र नागरी। इस गण से निम्न सात कुल निकले—(१) वत्सलीय, (२) प्रीतिधर्मक, (३) हारिद्रक, (४) पुष्पमित्रक, (५) मालयक, (६) आर्य चेटक और (७) कृष्ण सखा।

उडुवाडिय गण (ऋतुवाटिक गण) से चार शाखाएँ निकलीं—(१) चम्पार्जिका, (२) भद्रार्जिका, (३) काकन्दिका और (४) मेखलार्जिका। इससे निम्नलिखित तीन कुल जनमे—(१) भद्रयशिक (२) भद्रगौप्तिक और (३) यशोभद्रीय।

वेषवाटिक गण से चार शाखाएँ और चार कुल निकले। शाखाएँ हैं—(१) श्रावस्तिका, (२) राजपालिका, (३) अन्तरंजिका और (४) क्षेमलीया। कुल हैं—(१) गणिक, (२) मेघिक, (३) कामर्द्धिक और (४) इन्द्रपुरक।

मानवगण से निम्न चार शाखाएँ प्रकट हुईं—(१) काश्यवर्जिका, (२) गौतमीया (गोमार्जिका), (३) वाशिष्ठीया, (४) सौराष्ट्रिका। इस गण के कुलों के नाम इस प्रकार हैं—(१) ऋषिगोत्रक, (२) ऋषि-दत्तिक और (३) अभिजयन्त।

कोटिकगण से चार शाखाएँ और चार कुल निःसृत हुए। शाखाओं के नाम—(१) उच्चनागरिका, (२) विद्याधरी, (३) वज्री और (४) मध्यमिका। कुलों के नाम—(१) ब्रह्मलिप्तक, (२) वत्सलिप्तक, (३) वाणिज्य और (४) प्रश्नवाहक।

उपर्युक्त भेदोपभेद सैद्धान्तिक मतभेदों को लेकर नहीं हुआ था, अपितु संघीय व्यवस्था को समुचित रूप से चलाने के लिए हुआ था। विवेच्य खरतरगच्छ उक्त भेदोपभेदों में से कोटिक-गण की वज्र-शाखा से सम्बद्ध है।

उपर्युक्त सभी गणों, शाखाओं, कुलों का काफी महिमापूर्ण इतिहास रहा होगा। धर्म-संघ पर इनका अनुपम प्रभुत्व एवं वर्चस्व भी रहा होगा। इनमें से कतिपय गण, कुल, शाखा तो ऐतिहासिक दृष्टि से अपना गरिमापूर्ण स्थान रखते है।

खरतरगच्छ का प्रवर्तन : एक पूर्व भूमिका

कोई धर्म सदा एक-सा बना रहे, यह कम सम्भव है। प्रत्येक धर्म में ह्रास और विकास हुआ है, क्षीणता और व्यापकता आई है। जैन धर्म ने भी कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। धर्म-संघ के समय-समय पर हुए विच्छेदों ने उसकी एकरूपता तथा एकसूत्रता को क्षति पहुँचायी है। *विभिन्न प्रकार के गण, कुल, शाखा, गच्छ, समुदाय* एक-से-एक *निःसृत* होते हुए भी भगवान् महावीर के पथ से च्युत नहीं हुए। और जिन क्षणों में धर्म-संघ पथच्युत होने लगा, उसी समय खरतरगच्छ ने प्रकट होकर धर्मरथ की बागडोर थाम ली।

जैन धर्म के लिए यह बात सुप्रसिद्ध है कि यह एक आचार-प्रधान

धर्म रहा है। वह तत्त्व-निष्ठा और आचार-निष्ठा को समान महत्त्व देता है। इसीलिए वह ज्ञात सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान अपरिहार्य मानता है। चाहे श्रमण हो या श्रावक अथवा समस्त संघ का प्रतिनिधित्व करने वाला आचार्य हो, सबके लिए तात्त्विक एवं आचारमूलक आदर्श अनुकरणीय है। धर्म के निर्देश तो सबके लिए एक-से एवं चिरस्थायी होते हैं। इसलिए धर्म कभी भी उस छूट के मार्ग की अनुमोदना नहीं करता, जो जीवन-मूल्यों को पतनोन्मुख बनाता हो। पर मनुष्य सुविधावादी है। वह अपनी सुविधाओं के अनुसार धर्म-निर्दिष्ट आचार-परम्परा में आमूल-चूल परिवर्तन तो नहीं कर पाता, किन्तु उसमें उच्चता या शिथिलता तो स्वीकार कर सकता है।

भगवान् महावीर का तत्कालीन श्रमण-संघ तो समग्ररूपेण आचार एवं विचारनिष्ठ था। उनके समसामयिक एवं परवर्तीकाल में हुए श्रमणों तथा श्रमणाचार्यों ने अपने योगबल, ज्ञानबल और चारित्रबल के द्वारा न केवल आत्मोत्थान किया, अपितु सदाचार और सद्विचार की गंगा-यमुना को ग्रामानुग्राम पहुँचाने के लिए व्यापक प्रयास भी किया।

इसे काल का दुष्प्रभाव समझें या भाग्य की विडम्बना कि तत्परवर्तीकाल में आचार-निष्ठता धूमिल होने लगी और शिथिलता की महामारी से अनेक श्रमण ग्रसित हो गये। यद्यपि श्रमणोचित धर्म का परिपालन न करने के कारण वे श्रमण कहलाने के अधिकारी ही नहीं थे, तथापि वे स्वयं को श्रमण कहते और उसी रूप में ही प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त करते। यह वर्ग ही पश्चवर्ती काल में चैत्यवासी-यतिवर्ग के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

चैत्यवासी यतिजनों की बहुलता हो जाने के कारण जिनोपदिष्ट आगमिक आचार-दर्शन का सम्यक्तया पालन करनेवाले श्रमण गिनती

के ही रह गये। शास्त्रोक्त यतिधर्म या श्रमणधर्म के आचार-व्यवहार में और चैत्यवासी यतिजनों के आचार-व्यवहार में परस्पर असंगति होने से धार्मिक क्रान्ति अपेक्षित थी। इस ओर सर्वप्रथम कदम उठाया आचार्य जिनेश्वरसूरि ने। इन्होंने चैत्यवासी यतिश्रमणों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया। उन्हीं के प्रयासों का यह सुमधुर फल है कि आगमिक आचार-दर्शन के मार्ग का पुनर्प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हुआ और महावीर के मोक्ष मार्ग की पुनर्स्थापना हुई। इसके लिए ग्यारहवीं शदी में श्री वर्द्धमानसूरि के नेतृत्व में अथवा बुद्धिसागरसूरि के सहभागित्व में जिनेश्वरसूरि ने सुविहित मार्ग-प्रचारक एक नया गण स्थापित किया, जो खरतरगच्छ के नाम से प्रख्यात हुआ। यह गण अविच्छिन्न एवं अक्षुण्ण रूप से गतिशील रहा। धर्म संघ को इसने जो अनुदान किया, उसका अपने-आप में ऐतिहासिक मूल्य है।

खरतरगच्छ का वैशिष्ट्य

खरतरगच्छ वह परम्परा है जिसने चैत्यवास और मुनि-जीवन के शिथिलाचार के विरुद्ध क्रान्ति की। इस गच्छ में हुए आचार्यों के द्वारा चैत्यवास का उन्मूलन और सुविहित मार्ग का प्रचार करने के कारण ही आज तक श्रमण-धर्म प्रतिष्ठित रहा। खरतरगच्छ की यह तो प्राथमिक सेवा है, साहित्य-साधना और सामाजिक-सेवा भी खरतरगच्छ की अन्य विशेषताओं में प्रमुख है। इस मत का समाज पर इतना वर्चस्व एवं प्रभुत्व छाया कि हजारों लोगों ने इसमें निर्ग्रन्थ-दीक्षा ली और लाखों लोगों ने इसका अनुगमन किया। समाज में सर्वाधिक प्रसिद्ध ओसवाल-जाति का विस्तार इसी गच्छ की देन है।

वस्तुतः उन सभी विशेषताओं के कारण ही खरतरगच्छ का नाम *गौरवान्वित हुआ और इसकी परम्परा में हुए श्रमण एवं श्रमणाचार्य* जन-जन की श्रद्धा के केन्द्र बने।

खरतरगच्छ स्वयं में अनेक विशेषताओं को समेटे है। यहाँ हम निम्नलिखित विशेषताओं की चर्चा कर रहे हैं—

(१) शिथिलाचार का उन्मूलन।
(२) शास्त्रीय विधानों की पुनर्स्थापना।
(३) शास्त्रार्थ-कौशल।
(४) यौगिक शक्ति-प्रयोग।
(५) नरेशों को प्रतिबोध।
(६) जैन संघ का विस्तार।
(७) गोत्रों की स्थापना।
(८) प्रखर साहित्य-साधना।
(९) साम्प्रदायिक सहिष्णुता।
(१०) अन्य विशेषताएं।

आगामी पृष्ठों में हम उक्त बिन्दुओं पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

(१) शिथिलाचार का उन्मूलन : एक क्रान्तिकारी चरण

जैसे नदी की धारा में घटोतरी और बढ़ोतरी होती है, वैसे ही जैन धर्म में भी क्षीणता और व्यापकता आई। खरतरगच्छ जिन परिस्थितियों में जनमा, उनकी चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ तो मात्र इतना ही समझें कि वे परिस्थितियाँ धर्म-विकृति की थी। धर्म-परम्परा एवं विधि-विधानों के अमृत में लोगों ने यों जहर घोला कि अमृत का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। खरतरगच्छ ने धर्म, संघ एवं परम्परा को इस जहरीले वातावरण से न केवल मुक्त किया, वरन् अमृत-जीवन की पगडंडी पर आरूढ़ किया।

खरतरगच्छीय परम्परा में हुए आचार्यों/मुनियों की देन जैनेतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। यदि वे शिथिलाचार, चैत्यवास और और अविधिवाद का आमूल विनाश न करते तो वर्तमान जैन-चैत्य और वर्तमान श्रमणाचार का यह रूप दिखाई नहीं देता।

खरतरगच्छ की परम्परा प्रकट नहीं होती तो आज शायद जैन

मन्दिर/जिनालय भोगलिप्सा के साधन और जैन साधु मठाधीश या पण्डों के रूप में दृष्टिगत होते। शायद यह भी सम्भव था कि भारत में जैसे बौद्ध धर्म विलासिता, शिथिलता तथा उत्साहहीनता के कारण लुप्तप्रायः हुआ, वैसे ही जैन धर्म भी हो सकता था। पं० दशरथ शर्मा की यह मान्यता है कि खरतरगच्छ के आचार्यों का मैं तो सबसे बड़ा कार्य यह समझता हूँ कि राजविरोध, जन-विरोध श्रेष्ठिविरोध की कुछ परवाह न कर उन्होंने अनाचार एवं अनैक्य की जड़ पर कुठाराघात किया। उन्होंने जैन धर्म का मार्ग सर्व ज्ञातियों के लिए खोला, सबको समानाधिकार देकर ऐक्य सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया, मंदिरों में वेश्याओं के नाच को बन्द किया, रात्रि के समय मंदिरों में स्त्री-प्रवेश का निषेध किया और चैत्यादि का त्याग कर जिन शासन का पूर्णतया पालन किया और ब्राह्मण क्षत्रियादि को भी अहिंसा का उपदेश दिया।[१]

शिथिलाचार का उन्मूलन करने के लिए आचार्य जिनेश्वरसूरि, बुद्धिसागरसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि आदि के नाम उल्लेनीय हैं। खरतरगच्छ ज्ञानमूलक आचार को मुख्यता देता रहा है। अतः गच्छ में यदि कभी शिथिलाचार के दीमक लगे, तो गच्छ-स्थविर जागरूकतापूर्वक शिथिलाचार को समाप्त करते। यही कारण है कि अपनी आचार-परम्परा को निर्मल एवं पवित्र बनाये रखने के लिए खरतरगच्छाचार्यों ने समय-समय पर 'क्रियोद्धार' किया। सम्राट अकबर प्रतिबोधक आचार्य जिनचन्द्रसूरि द्वारा किया गया 'क्रियोद्धार' खरतरगच्छ की आचार-परम्परा को जीवन्त एवं विशुद्ध बनाने का महत्त्वपूर्ण कदम था। जिनचन्द्रसूरि द्वितीय जिनेश्वरसूरि थे। जिनेश्वर-सूरि ने धर्मसंघ में फैले शिथिलाचार को मिटाया तो जिनचन्द्रसूरि ने गच्छ में फैले शिथिलाचार को। आचार-मूलक शिथिलता खरतरगच्छ

---

१ युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि, प्रस्तावना, पृष्ठ—३

के लिए असह्य है। साधु-जीवन में आचारमूलक निर्मलता खरतरगच्छ की प्रथम प्रेरणा है।

खरतरगच्छ की यह मूलभूत सिखावन है कि चाहे व्यक्ति हो या संघ हो, उसे अपने बाहरी-भीतरी व्यवहारों को स्वच्छ करना चाहिये, अस्वच्छताओं को बाहर निकालना चाहिए। वस्तुतः साधु-संस्था ही संघ में मुख्य स्थान रखती है। अतः इसका आदर्श सकल संघ के लिए प्रभावक होता है। खरतरगच्छ का जन्म इसी पृष्ठ भूमि पर हुआ था। खरतरगच्छ के अनुसार हमें चरित्र की उन कसोटियों को सामने लाना होगा, जिन्हें हमारे पूर्वाचार्यों ने अपने आचरण एवं तप से सींचा है। साधु क्या होता है, कैसा होता है, उसके क्या कर्तव्य बनते हैं, उसके क्या दायित्व हैं, उसे समाज के साथ, अपने शिष्य-समुदाय के साथ, अपने आचार्य के साथ कैसा सलूक करना चाहिये, आत्महित और लोकहित के लिए किस तरह के समा-योजन करने चाहिए—ये सब बातें गहराई से सोचनी चाहिये। खरतरगच्छ का कहना है कि हमें ऐसे प्रयत्न करने चाहिये, जिससे हमारी तमाम खोयी हुई बिमलताएँ लौट आये और उनका एक तेज असर धर्म एवं समाज के नव निर्माण में हो। इस गच्छ की पूर्ववर्ती परम्परा को देखने से लगता है कि इसके लिए 'क्रियोद्धार' जैसी आदर्श परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करना चाहिये।

खरतरगच्छ श्रमणवर्ग और श्रावकवर्ग के अन्तरलक्षी उद्देश्यों को कभी गौण नहीं कर सकता। श्रावक तो खैर एक सीमा तक ही स्थूलतः त्यागी-वैरागी है, किन्तु श्रमण! वह तो सम्पूर्णतः त्याग वैराग्य की पगडंडियों को पार करता है।

श्रमण-वर्ग के अन्तर्गत आचार्य, उपाध्याय, गणि, सामान्य साधु, साध्वी अथवा यति सभी सम्मिलित हो जाते हैं। आचार्य, उपाध्याय, गणि—ये सब तो वास्तव में पद हैं, पदोन्नतियां हैं। पद प्राप्त होने से

साधु का मूल रूप समाप्त नहीं होता, अपितु उसमें और निखार आना चाहिये। साधुता वह विशिष्ट गुण है, जो किसी अवस्था में लुप्त नहीं होता है। यह वह मौलिक गुण है, जो सर्वत्र विद्यमान है। सोने के हम अनेक आभूषण बनवा लें, उसके विभिन्न नाम भी रख लें, उपयोग भी गले, नाक आदि विभिन्न स्थानों में करें, किन्तु हार, कुण्डल, अंगुठी आदि सभी अलंकारों में मूल सुवर्णत्व विद्यमान रहता है। वैसे ही आचार्य उपाध्याय, गणि, प्रवर्तिनी, अथवा श्रीपूज्य आदि कार्य विशेष एवं दायित्व विशेष के चलते नाम में भेद हो सकता है, किन्तु साधुता की शर्त सबके साथ अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

साधुत्व की गरिमाओं को मुखयता देने के कारण ही खरतरगच्छ को क्रान्ति करनी पड़ी। इसके अनुसार तो साधुत्व के वैशिष्ट्य से रहित न किसी आचार्य की कल्पना की जा सकती है, न किसी उपाध्याय की। इसके अभिमत में साधु वह है, जो महत् उद्देश्य की सिद्धि के लिए आचार-विचार में एकरूपता रखते हुए समर्पित जीवन व्यतीत करता है। साधुत्व की गरिमा को नजर अन्दाज कर जाने के कारण ही तो खरतरगच्छ को चैत्यववासियों के विरुद्ध आन्दोलन करना पड़ा। भगवती आराधना के अनुसार तो एक लाख 'पासत्थों' (शिथिलाचारी) की अपेक्षा एक चरित्रवान् और शील-सम्पन्न साधु श्रेष्ठ है। वास्तव में ज्ञान और चारित्र के मणि-कांचन योग का नाम ही साधु है। खरतरगच्छ की यह मान्यता आज भी उतनी ही प्रेरणादायी है, जितनी इसके आविर्भाव के समय थी।

(२) शास्त्रीय विधानों की पुनर्स्थापना

चैत्यवासी लोगों ने अपनी सुविधा एवं मनोभावना के अनुरूप अपना आचार-व्यवहार बना रखा था। धर्म-संघ से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति को अपना आचार शास्त्र-सम्मत सिद्ध करना भी अनिवार्य है। अनुयायी लोग सामान्यतया भोले-भाले एवं शास्त्रों की

गूढ़ बातों से अनभिज्ञ होते हैं। चैत्यवासी यति वर्ग ने इस कमजोरी का लाभ उठाया। उन्होंने शास्त्रीय बातों की अपने ढंग से व्याख्याएँ कीं और भोली-भाली जनता को गुमराह करने की कोशिश की।

खरतरगच्छ का अभ्युदय शास्त्रोक्त आचार-व्यवहार के पालन में आई कमजोरी को दूर करने के लिए ही हुआ था। अतः शास्त्रीय विधानों की सम्यक् व्याख्या एवं पुनः स्थापना खरतरगच्छ द्वारा होनी स्वाभाविक ही थी।

खरतरगच्छाचार्यों ने अशास्त्रीय, अकरणीय और अवांछनीय का खण्डन और विध्वंश करके शास्त्रीय, करणीय एवं वांछनीय तत्त्वों का मण्डन और नव निर्माण किया। खरतरगच्छानुयायियों का जैन मंदिर के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण था, उसका उल्लेख हमें शिलालेखों से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ जिनालयों के सम्बन्ध में किये गये कतिपय विधान प्रस्तुत हैं, जो कि चित्तौड़ के भगवान महावीर चैत्यालय में शिलालेखित थे—

(१) अशास्त्रीय तथा उन्मार्ग में ले जाने वाली समस्त प्रवृत्तियों का त्याग होना चाहिए।

(२) रात्रि में प्रतिमाओं के स्नात्र/प्रक्षालन आदि कृत्य नहीं होने चाहिए। इसी तरह रात्रि में प्रतिष्ठा, दीक्षा, देवतर्पण आदि भी वर्ज्य हैं।

(३) चैत्यालयों में नर-नारी द्वारा कृत "लगुडरास" (रास-रासड़ा) भी निषिद्ध है, क्योंकि वह कर्ण-विकारक है, न कि प्रभु-भक्ति के साधन।

(४) चैत्य-मंदिरों में अनुचित नारी-नृत्य/वेश्या-नृत्य नहीं होने चाहिए। कारण, यह वासनोद्दीपक है।

(५) रात्रि-वेला में जिनालयों में नारी-प्रवेश निषिद्ध है। साथ ही चैत्य के गर्भगृह में नारी न जाए ताकि मूर्ति का अतिशय सुरक्षित रहे।

(६) पान, मुखावास आदि भक्षण करते हुए चैत्य में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

(७) चैत्यों में जाति या ज्ञाति का कदाग्रह नहीं होना चाहिए। प्रत्येक भव्य व्यक्ति मंदिर में जा-आ सकता है।

उपर्युक्त सप्त विधानों में पंचम विधान को छोड़कर वर्तमान में अन्य सभी षष्ठ विधान क्रियमान हैं। यद्यपि पंचम विधानानुसार रात्रि के समय नारियों का चैत्य में प्रवेश निषिद्ध है, किन्तु नये सुधारवाद के प्रभाव स्वरूप नारियां रात्रि काल में भी चैत्यों/जिनालयों में गमनागमन करती हुई देखी जाती हैं।

वस्तुतः नारी को मासिक धर्म के चार दिन के साथ पूर्ववर्ती तीन दिन एवं पश्चवर्ती तीन दिन तक मन्दिर में जिन-पूजा हेतु नहीं जाना चाहिये, ताकि मन्दिर की सात्विकता, पवित्रता व अतिशयता बनी रहे।

खरतरगच्छ के पूर्व निर्दिष्ट विधानों का उल्लेख निम्न पद्यों के आधार पर किया गया है—

अत्रोत्सूत्रजनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा,
साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि।
जाति-ज्ञाति कदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बुलमि-
त्याज्ञांऽत्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीवीरचैत्यालये।
इह न लगुडरासः स्त्रीप्रवेशो न रात्रौ,
न च निशि बलि-दीक्षा-स्नात्र-नृत्य-प्रतिष्ठाः।
प्रविशति न च नारी गर्भगेहस्य मध्ये-
नुचितमकरणीयं गीतनृत्यादिकार्यम्॥[1]

चैत्यालयों की भाँति खरतरगच्छाचार्यों ने श्रमण साधुओं के लिए भी निम्नांकित कर्तव्यों का परिपालन करना अनिवार्य बताया, जिनके

---

१ संघपट्टक-टीका, चर्चरी-टीका (उद्धृत वल्लभ भारती, पृष्ठ ६६) एवं अष्टसप्ततिका (चित्रकूटीय वीर चैत्य-प्रशस्ति)

बिना साधु-साधु नहीं, अपितु सांसारिक वृत्तियों में रचा-पचा गृहस्थ जैसा है।

(१) अशुद्ध और स्वयं के लिए निर्मित भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(२) चैत्य आत्म-साधना का स्थान है। अतः वहाँ निवास नहीं करना चाहिए।

(३) चैत्यों/जिन मंदिरों के अर्थ का उपभोग और वहाँ गृहस्थ-धर्म का सेवन अनुचित है।

(४) गद्दी आदि का आसन, तत्सम्बन्धित कामोद्दीपक साधन और आश्रवपूर्ण क्रियाओं का परित्याग होना चाहिए।

(५) सिद्धान्त मार्ग की अवज्ञा, उन्मार्ग/उत्सूत्र की प्ररूपणा, सन्मार्ग प्ररूपक आत्मसाधक-मुनियों की अवहेलना एवं गुणीजनों की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए आदि-आदि।

उक्त तथ्यों की ओर संकेत करते हुए आचार्य जिनवल्लभसूरि ने लिखा है—

यत्रोद्देसिकभोजनं जिनगृहेवासो वसत्यधमा।
स्वीकारोऽर्थगृहस्थचैत्यसदनेष्वप्रेक्षिताद्यासनम्।
सावद्याचरितादरः श्रुतपथावज्ञा गुणिद्वेषधीः।
धर्मः कर्म हरोऽत्र चेत्पथि भवेन्मेरुस्तदाब्धो तरेत्॥[1]

इसी प्रकार अन्य भी अनेक छोटे-बड़े विधान "विधि चैत्य" और साधुगण के लिए प्ररूपित किये गये। खरतरगच्छ की मान्यताओं, विधानों एवं व्यवस्थाओं का विस्तृत विवरण जिनवल्लभसूरि रचित 'षट्कल्याणक विधि', मणिधारी जिनचन्द्रसूरि रचित 'पदव्यवस्था कुलक', आचार्य जिनप्रभसूरि रचित 'विधिप्रपा', रुद्रपल्लीय आचार्य वर्धमानसूरि रचित 'आचार दिनकर', महोपाध्याय समयसुन्दर रचित 'समाचारी-शतक' आदि ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

[1] संघपट्टक, कारिका ५

(३) शास्त्रार्थ-कौशल

भारत में शास्त्रार्थ की परम्परा काफी प्राचीन है। भगवान् महावीर के लगभग हजार वर्ष बाद शास्त्रार्थ का जाल-सा भारत में छा गया था। जैन-आचार्य और साधु लोग गांव-गांव विचरण करते थे, अपने धर्म की नीतियां सिखलाते थे। उनसे उन लोगों का भी सामना होता, जो अन्य मान्यताओं का समर्थन करते थे। सभी अपने-अपने शास्त्रों की बातें करते, अतः शास्त्रार्थ होने स्वाभाविक थे।

खरतरगच्छ का तो आविर्भाव ही शास्त्रार्थमूलक परिवेश में हुआ था। आचार्य जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि इन दोनों युगल बन्धुओं ने चैत्यवासी आचार्यों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा और विजय प्राप्त की। पद्मचन्द्राचार्य जैसे उद्‌भट विद्वानों को परास्त करने का श्रेय खरतरगच्छ को ही है। खरतरगच्छ की परम्परा में हुए आचार्यों, मुनियों और विद्वानों ने अनेकशः शास्त्रार्थ किये। उनकी प्रातिभ मनीषा ने दिग्गज विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त कर जैन धर्म की प्रभावना में बढ़ोतरी की। अमेय मेधा के धनी आचार्य जिनपतिसूरि का नाम यहाँ विशेष उल्लेख्य है, जिन्होंने अपने जीवनमें छतीस बार शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर धर्म-प्रभावना में चार-चाँद लगाए।

(४) यौगिक शक्ति-प्रयोग

खरतरगच्छ के श्रमणसंघ में अनेकानेक योग-प्रतिभाएँ प्रकट हुईं। खरतरगच्छाचार्यों का साधनामय जीवन बड़ा ओजस्वी रहा। अनगिनत कष्टों, बाधाओं और विघ्नों के बीच भी वे अविचल रहे। खरतरगच्छीय इतिहास उन महापुरुषों के सद्‌विचार, सदाचार, त्याग, योग, वैराग्य के अनेकानेक घटना-क्रमों से भरा है। उन्होंने अपनी यौगिक शक्तियों का उपयोग करके शासन-रक्षा एवं शासन-प्रभावना में आशातीत अभिवृद्धि की। उन अमृत-पुरुषों के वरद हस्त की छत्र-

छाया के पुण्य-प्रभाव से ही यह गच्छ अनगिनत बाधाओं को चीरता हुआ जैन समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाये हुए है।

खरतरगच्छ में हुए चार दादागुरुदेवों की यौगिक शक्तियाँ एवं उनके चमत्कार तो प्रसिद्ध ही हैं। सैकड़ों चमत्कार उनसे जुड़े हुए हैं। उन्हें प्रत्यक्ष प्रभावी मानकर प्रत्येक जैन उनके प्रति श्रद्धान्वित है। खरतरगच्छ के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य जिनदत्तसूरि तो मन्त्र-विद्या में अत्यन्त निष्णात थे। खरतरगच्छ के ही एक महान् योगीराज आनन्दघन के यौगिक चमत्कार भी प्रसिद्ध हैं। अध्यात्म योगी श्रीमद् देवचंद्र, ज्ञानसार, चिदानंद, ज्ञानानंद और सहजानन्दघन (भद्रमुनि) भी अच्छे योगी थे। नामोल्लेख कितने लोगों का किया जा सकता है। खरतरगच्छ तो योग-साधना का रत्नाकर है। अन्धों को आँखें देना, गूंगों को वाणी देना, अमावस्या को पूर्णिमा में बदल देना, ऐसे-ऐसे कितने ही चमत्कार हैं जो खरतरगच्छाचार्यों की यौगिक प्रतिभा के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

(५) नरेशों को प्रतिबोध

खरतरगच्छ की यह प्रमुख विशेषता है कि वह आम जनसमुदाय के साथ-साथ राज्याधिपति नरेशों से भी सम्बद्ध रहा। प्रत्येक खरतर-गच्छाचार्य ने अपने समसामयिक नरेशों को प्रतिबोध दिया और उन पर अपना प्रभुत्व जमाकर शासन के हित में काम करवाये।

आचार्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के चरित्र एवं ज्ञान से पाटण-नरेश दुर्लभराज अत्यन्त प्रभावित था। इन युगलबन्धुओं का राजा पर प्रभाव होने के कारण ही सुविहितमार्गी मुनियों का पाटण एवं सारे गुजरात में आवागमन शुरू हुआ।

आचार्य जिनवल्लभसूरि का धारानरेश नरवर्म पर विशेष प्रभाव था। नरवर्म ने आचार्य के निर्देश से चित्तौड़ के दो जैन मन्दिरों में दो लाख रुपये खर्च करके पूजन मण्डपिकाएँ बनाईं।

आचार्य जिनदत्तसूरि का भी अनेक राजाओं पर प्रभाव था, जिनमें त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल और अजमेर के राजा अर्णोराज का नाम उल्लेखनीय है। दिल्ली के महाराजा मदनपाल मणिधारी जिनचन्द्रसूरि के अनन्य भक्त थे।

आचार्य जिनपतिसूरि से आशिका नगर के नरेश भीमसिंह बड़े प्रभावित थे। अजमेर के प्रसिद्ध महाराजा पृथ्वीराज चौहान जिनपति सूरि के प्रबल समर्थक थे। पाटण के राजा भीमदेव भी इनके प्रति श्रद्धा रखते थे। लवणखेड़ा के राजा केल्हण आचार्य के प्रति सदैव नतमस्तक रहे। नगरकोट के राजा पृथ्वीचन्द्र आचार्य जिनपतिसूरि और उपाध्याय जिनपाल के परम श्रद्धालु भक्त थे।

'कलिकाल-केवली' विरुद प्राप्त जिनचन्द्रसूरि ने चार राजाओं को प्रतिबोध दिया था। खरतरगच्छ का जो दूसरा नाम 'राजगच्छ' प्रसिद्ध हुआ, वह राजाओं पर विशेष प्रभाव होने के कारण ही हुआ।

आचार्य जिनप्रभसूरि खरतरगच्छ के ही थे, जो बादशाहों को प्रतिबोध देने की शृंखला में सर्वप्रथम माने जाते हैं। बादशाह मुहम्मद तुगलक को जैनधर्म की शिक्षा देने वाले आचार्य ये ही थे।

बीजापुर के महाराज सारंगदेव, महामात्य मल्लदेव व उपमन्त्री विन्ध्यादित्य आचार्य जिनप्रबोधसूरि से प्रबोधित एवं प्रभावित थे। सिवाणा शम्यानयन-नरेश श्रीसोम और जैसलमेर-नरेश कर्णदेव जिनप्रबोधसूरि को बहुत मानते थे।

शम्यानयन के महाराज सोमेश्वर चौहान, जैसलमेर के महाराज जैत्रसिंह और शम्यानयन नरेश शीतलदेव आचार्य जिनचन्द्रसूरि से बड़े प्रभावित थे। उन्हें धर्ममार्ग पर आरूढ़ करने का श्रेय इन्हीं आचार्य को है। अलाउद्दीन के पुत्र सुलतान कुतुबुद्दीन, मेड़ता-राणा मालदेव चौहान भी इनसे जबरदस्त प्रभावित हुए।

बाहडमेर के नरेश राणा शिखरसिंह पर आचार्य जिनपद्मसूरि

का अनूठा प्रभाव था। सत्यपुर/साचोर के राणा हरिपालदेव, आशोटा के राजा रुद्रनन्दन, बूजद्री के राजा उदयसिंह, त्रिश्रृङ्गम के अधिपति राजा रामदेव आचार्य के व्यक्तित्व से शतशः प्रभावित थे।

दिल्लीपति गयासुद्दीन बादशाह ने दादा जिनकुशलसूरि से धर्मबोध प्राप्त किया था। सुप्रसिद्ध महामन्त्री वस्तुपाल भी जिनकुशलसूरि के प्रति श्रद्धावनत थे।

बादशाह अकबर चतुर्थ दादा आचार्य जिनचन्द्रसूरि का परम भक्त था। अकबर ने आचार्य की बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें 'युगप्रधान' पद प्रदान कर एक महान् राष्ट्र सन्त के रूप में स्वीकार किया। मुगल सम्राटों पर जैन धर्म में यदि किसी गच्छ विशेष का प्रभाव रहा, तो उनमें खरतरगच्छ का नाम प्रमुख एवं प्रथम है। अकबर जैसे समर्थ बादशाह को अपने चरणों में झुकाना और अमारि-घोषणा जैसी अहिंसामूलक आज्ञाओं को देश में प्रचारित करवाना खरतरगच्छ की प्रमुख विशेषता है।

अपने पिता की तरह जहाँगीर भी खरतरगच्छाचार्यों की विद्वता एवं प्रतिभा से प्रभावित था। बादशाह जहाँगीर की साधु-विहार-प्रतिबन्धजन्य आज्ञा को मिटाने में भी जिनचन्द्रसूरि के प्रयास सफल रहे।

(६) जैनसंघ का व्यापक विस्तार

जैनीकरण खरतरगच्छ की अभूतपूर्व देन है। खरतरगच्छ ने जैन-संख्या में जितना विस्तार किया, उतना आज तक किसी अन्य गच्छ या शाखा द्वारा नहीं हुआ। खरतरगच्छ में हुए आचार्यों में से एक-एक आचार्य के द्वारा हजारों-हजारों नये जैन बनाये गये। आचार्य जिन-वल्लभसूरि ने एक लाख नये जैन बनाये। जैनीकरण का विश्व कीर्तिमान स्थापित किया आचार्य जिनदत्तसूरि ने। आचार्य का जैन संघ

को यह अनुपम और अद्वितीय अनुदान है। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार जिनदत्तसूरि के हस्ते एक लाख तीस हजार नये जैन बने। इसी प्रकार आचार्य जिनकुशलसूरि ने अपने जीवन में पचास हजार से अधिक जैन बनाये।

जैन धर्म के व्यापक विस्तार की दृष्टि से खरतरगच्छ ने बहुत बड़ा कार्य किया, लाखों अजैनों को जैनधर्म में प्रवृत्त किया।

क्षत्रिय जाति का जैन धर्म के साथ प्रारम्भ से ही बड़ा निकटतापूर्ण सम्बन्ध रहा, किन्तु आगे चलकर परिस्थितिवश वैसा नहीं रह सका। शताब्दियों बाद आचार्य श्री जिनदत्तसूरि एवं उनकी परम्परा में हुए आचार्यों ने अपने त्याग-तपोमय आदर्शों और उपदेशों से लाखों क्षत्रियों को प्रभावित किया, उन्होंने जैनधर्म स्वीकार किया। ओसवाल जाति, जो आज लाखों की संख्या में है, उसी क्षत्रिय-परम्परा की आनुवंशिकता लिये है।

काश, खरतरगच्छ के इस महनीय कार्य का सम्पूर्ण जैन समाज अनुकरण कर पाता तो आज जैनों की संख्या करोड़ों में होती।

(७) गोत्रों की स्थापना

भारतीय समाज अनेक वंशों एवं गोत्रों में विभक्त है। जैन-परम्परा के अनुसार संसार में पहला वंश-नामकरण भगवान् ऋषभदेव से सम्बद्ध है। इनसे इक्ष्वाकु-वंश जन्मा। भारतीय-वंश-परम्परा में यह सर्वप्रथम वंश माना जाता है। ऋषभदेव से ही तीन कुल प्रगट हुए—उग्र, भोग और राजन्य। धीरे-धीरे वर्ण, जाति, वर्ग, कुल, वंश, गोत्र इत्यादि परम्पराएँ विकसित हुईं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—ये चार वर्ण प्रसिद्ध हैं। 'स्थानांग-सूत्र' में सात गोत्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रत्येक गोत्र से सात-सात शाखाएँ विकसित हुईं। स्थानांग में उनचास गोत्र-शाखाओं का वर्णन मिलता है। कल्पसूत्र स्थविरावली-खण्ड में भी प्राचीन

गोत्रों की चर्चा की गई है। भगवान् ऋषभ और महावीर का गोत्र काश्यप था। महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति का गोत्र गौतम था। वीर निर्वाण सं० ६८० तक प्राचीन गोत्रों की परम्परा अव्याबाध रूप से चली। तत्परवर्तीकाल में नये-नये वंशों एवं गोत्रों की स्थापना के उल्लेख मिलते हैं।

श्वेताम्बर जैन परम्परा में नये गोत्रों की स्थापना का प्रथम श्रेय आचार्य रत्नप्रभसूरि और स्वयंप्रभसूरि को है। खरतरगच्छाचार्यों में आचार्य जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिचचन्द्रसूरि आदि आचार्यों ने शताधिक नूतन गोत्र स्थापित किये। नाहटा बन्धुओं के अनुसार आचार्य श्री वर्धमानसूरि से लेकर अकबर-प्रतिबोधक श्री जिनचन्द्रसूरि तक के आचार्यों ने लाखों अजैनों को जैनधर्म का प्रतिबोध दिया। ओसवाल वंश के अनेक गोत्र इन्हीं महान् आचार्यों के स्थापित हैं। महत्तियाण जाति की प्रसिद्धि श्री जिनचन्द्रसूरि से विशेष रूप में हुई। इस जाति के भी ८४ गोत्र बतलाये जाते हैं। श्रीमाल जाति के १३५ गोत्रों में ७६ गोत्र खरतरगच्छ के प्रतिबोधित बतलाये गये हैं। पोरवाड़ जाति के पंचायणेचा गोत्र वाले भी खरतरगच्छानुयायी थे।[1] नाहटा-बन्धुओं ने खरतरगच्छीय गोत्रों के प्राचीन प्रमाण संकलित किये हैं और उन्हें 'खरतरगच्छ के प्रतिबोधित गोत्र और जातियाँ' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित किया है। उन प्रमाणों में ओसवाल-वंश के ८४, श्रीमाल के ७६, पोरवाड़ और महत्तियाण के १६६ गोत्रों का जिक्र किया गया है।

खरतरगच्छ ने केवल जैनीकरण ही नहीं किया, अपितु जैन समाज के अनुरूप नूतन जैनों को ढाला भी। उन्हें जैनधर्म के अनुरूप सामाजिक व्यवस्थाएँ दी गईं, धार्मिक एवं सांसारिक व्यावहारिकताएँ उनसे जोड़ी गईं। जैन विधिमूलक व्यवहार-धर्म का पालन करने

[1] खरतरगच्छ के प्रतिबोधित गोत्र और जातियाँ, पृष्ठ ३

के लिए उन्हें अलग-अलग गोत्र दिये गये। एक-एक गोत्र से सैकड़ों-हजारों लोगों का सम्बन्ध जोड़ा गया। खरतरगच्छ द्वारा अब तक दो सौ से अधिक गोत्र स्थापित हुए हैं।

श्री सोहनराज भंसाली के अनुसार राजस्थान में जो ओसवाल विपुल संख्या में दिखाई दे रहे हैं, उनमें से अधिकांश के पूर्वज आचार्य जिनेश्वरसूरि व उनके शिष्य-प्रशिष्य अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनकुशलसूरि, जिनचंद्रसूरि आदि द्वारा प्रतिबोधित हैं। इनमें सबसे अधिक श्रेय आचार्य जिनदत्तसूरि को ही प्राप्त है। आज इसी परम्परा के गुरुओं के उपदेशों का ही फल है कि हम निरामिषाहारी हैं, अहिंसा के उपासक हैं, जैन धर्म के अनुयायी हैं।[१]

खरतरगच्छाचार्यों द्वारा प्रतिबोधित गोत्र निम्नलिखित हैं, जिनका मूल गच्छ खरतर है—

ओस्तवाल	खजांची
आयरिया	खींवसरा
कटारिया	गणधर चौपड़ा
कठोतिया	गांधी
कवाड़	गिडिया
कंकुचौपड़ा	गोलेच्छा
कांकरिया	गोडवाडा
कांस्टिया	गुलगुलिया
कूकडा	गधैया
कुंभट	गांग
कोटेचा	गेलडा
कोठारी	गडवाणी
खटोड़	घोड़ावत

१ ओसवाल वंश : अनुसंधान के आलोक में, पृष्ठ ७३

घेवरिया
घीया
चौपड़ा
चतुर
चौपड़
चोरड़िया
चंडालिया
चौधरी
चपलोत
छाजेड़
छजलानी
जड़िया
जिन्दानी
जोगिया
झाबक
झांट
झाड़चूर
जीरावला
टांटिया
टांक
टूंकलिया
टोडरवाल
डुंगरेचा
डागा
डोशी
डाकलिया
ढढ्ढा
ढोर
ढेलड़िया
तातेड़
दुगड़
दुधेड़िया
दक
दसाणी
दासोत
दुसाज
दफ्तरी
दांतेवाड़िया
धूपिया
धाड़ीवाल
नाहटा
नाहर
नवलखा
नावड़िया
पटवा
पारख
पुनमिया
पुंगलिया
पालरेचा
पोकरण
पालावत
पगारिया
पींचा
फोफलिया

बरड़िया
बूबकिया
बांठिया
बाफना
बंब
बलाई
बुच्चा
बोहरा
बोथरा
बच्छावत
बुरड़
बावेल
बदलिया
बेंगानी
बडेरा
बागरेचा
बालड़
बोकड़िया
मोदी बैताला
बोरूंदिया
भूतेड़िया
भूरा
भटनेरा चौधरी
भंसाली
भीड़कच्या
भंडारी
भड़गतिया
भांडावत
भाचावत
मूंदड़ा
मरोटी
मालू
मुकीम
मेडतवाल
मुणोत
महिमवाल
मोघा
महतियाण
मंडोवरा
मरड़िया
मीठड़िया
मेहता
मुथा
रांका
राखेचा
रामपुरिया
रातड़िया
राणावत
रेड़
लूणिया
लूणावत
लालाणी
लोढ़ा
लूंकड़

ललवानी	सेठिया
वडेर	सोनीगरा
वरमेचा	सांखला
वंठ	सुराणा
वुच्चा	सियाल
बाघमार	सालेचा
शाह	सिंघी
शेखावत	सिंघवी
श्रीश्रीमाल	सोनावत
संचेती	समदड़िया
सांड	हाकिम
सावनसुखा	हरकावत
सीपानी	हूँडिया
संखलेचा	हुंबड़
सोलंकी	

प्राप्त जानकारी के अनुसार खरतरगच्छाचार्यों द्वारा उक्त गोत्रों की स्थापना हुई। अन्य गोत्र भी सम्भव है।

(८) प्रखर साहित्य-साधना

खरतरगच्छ में अनेक प्रभावशाली आचार्य और प्रतिभाशाली विद्वान मुनि हुए, जिनके कर्तृत्व से तत्कालीन तथा वर्तमान जैन समाज आत्यन्तिक उपकृत है। खरतरगच्छ की विद्वत् परम्परा में भाषा, साहित्य, दर्शन, इतिहास, अनेकार्थ, वैयाकरण, वृत्तिसाहित्य, प्रकरण-साहित्य, नीति, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विधाओं पर हजारों कृतियों की रचना हुई। ऐसे भी अनेक खरतरगच्छीय श्रमण व श्रमणाचार्य हुए जिनमें एक-एक की ही हजारों रचनाएं साहित्य-संसार को उपलब्ध हैं। खरतरगच्छीय मुनियों ने न केवल साहित्य-सर्जन किया,

अपितु उसका संरक्षण और प्रसारण भी किया। उसी का फल है कि आज जैसलमेर ज्ञानभंडार जैसे अनेकानेक ज्ञानभंडार/ग्रन्थालय उनके प्रयासों से मूर्तरूप लिये हुए हैं। इस तरह उनकी यह विद्योपासना न केवल खरतरगच्छ अथवा जैन धर्म की दृष्टि से अपितु समस्त भारतीय संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से भी नितान्त उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है।

इस सम्बन्ध में महोपाध्याय विनयसागर का अभिमत है कि खरतरगच्छ की परम्परा के मनीषियों ने जितना साहित्य-सर्जन किया है उसकी आज श्वेताम्बर समाजके समग्र गच्छों द्वारा निर्मित साहित्य-निधि से तुलना की जा सकती है। इन मनीषियों ने आगम, कर्म-साहित्य, कथानुयोग, प्रकरण, व्याकरण, दर्शन, न्याय, लक्षण, छन्द, कोष, साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक, नाट्य, नीति आदि सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलाकर, मौलिक एवं टीकाएँ रचकर केवल जैन-साहित्य की ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य की अनुपमेय सेवा की है। इन मनीषियों ने केवल साहित्य-सर्जन ही नहीं अपितु उस साहित्य के संरक्षण, संवर्धन तथा संप्रचलनमें भी अत्यधिक योग दिया है, जिसकी सृष्टि जैनेतर विद्वानों ने की थी। इस परम्परा के आचार्य प्रायः विद्वान हुए हैं और इन्होंने अपनी 'करनी' और 'कथनी' को सदा ही पाण्डित्य की शान पर पैनी करके रखा है। यही कारण है कि इस गच्छ और परम्परा के अनेक विद्वानों की कृतियाँ और सिद्धियाँ अपने गच्छ के सीमित परिधि से ऊपर उठकर सर्वगच्छीय सम्मान प्राप्त कर सकी हैं।[१]

खरतरगच्छ का समग्र साहित्य सरस्वती का विराट भंडार है। इस गच्छ ने ऐसे-ऐसे ग्रन्थ दिये हैं, जिनकी टक्कर के दूसरे ग्रन्थ सम्पूर्ण संसार में नहीं है। उदाहरण के लिए अष्टलक्षी। इस ग्रन्थ में 'राजा नो ददते सौख्यम्' इस अष्टाक्षरीय वाक्य के दस लाख बाईस

---

१ वल्लभ-भारती, पृ० ५६।

हजार, चार सौ सत्ताईस अर्थ प्रस्तुत हैं। विश्व-साहित्य को ऐसे ग्रन्थों पर गर्व है। खरतरगच्छ की साहित्यिक-साधना लगभग हजार वर्षकी है। विक्रम की सतरहवीं-अठारहवीं शदी में खरतरगच्छ ने सर्वाधिक साहित्य का सृजन किया।

खरतरगच्छ के साहित्यकारों में आचार्य अभयदेवसूरि, जिनवल्लभ-सूरि, मन्त्रि-मण्डन, ठक्कुर फेरु, महोपाध्याय समयसुन्दर, उपाध्याय देवचन्द्र, अगरचन्द नाहटा आदि के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। खरतरगच्छ ने साहित्य-संसार को हजारों ग्रन्थ-रत्न प्रदान किये हैं। श्री अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा एवं महोपाध्याय विनय सागर ने खरतरगच्छीय साहित्य की सूची तैयार करने की कोशिश की है। उन्होंने २०६१ ग्रन्थों की सूची तैयार की है। यह तो मात्र उन ग्रन्थों की सूची है, जो उनकी अनुसन्धान-दृष्टि में आए हैं। अभी तक भी भारत के विविध ज्ञान भण्डारों में अनेकानेक ग्रन्थ बन्द पड़े हैं, जिन्हें प्रकाश में लाना अपरिहार्य है। हमें उपलब्ध हुए ग्रन्थों से कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख करना चाहेंगे।

(१) आगम-टीकाएँ :—जैन आगमों के टीकाकारों में आचार्य अभयदेवसूरि का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। अभयदेव खरतरगच्छ के तृतीय पट्टधर थे। आगम-साहित्य पर आज तक जिसने भी कलम चलाई, उसने अभयदेव कृत आगम-टीकाओं का अवश्य आश्रय लिया। अभयदेव ने नौ अंग-आगमों पर व्याख्या ग्रन्थ लिखे थे।

अन्य आगम-टीका-ग्रन्थों में निम्न उल्लेखनीय हैं—जिनराजसूरि कृत भगवतीसूत्र टीका एवं स्थानांगसूत्र टीका, साधुरंग कृत सूत्र-कृतांगसूत्रटीका दीपिका, उपाध्याय कमलसंयम कृत उत्तराध्ययनसूत्र टीका सर्वार्थसिद्धि, उपाध्याय पुण्यसागर कृत जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, मतिकीर्ति कृत दशाश्रुतस्कन्धसूत्र-टीका, सहजकीर्ति कृत निशीथ-

सूत्रार्थटीका आदि। कल्पसूत्र पर खरतरगच्छीय विद्वान मुनियों ने तीस से अधिक व्याख्या-ग्रन्थ निबद्ध किये हैं, जिनमें महोपाध्याय समयसुन्दर कृत कल्पलता नामक टीका उल्लेखनीय है। समयसुन्दर कृत दशवैकालिक टीका भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

(२) सैद्धान्तिक-प्रकरण :—खरतरगच्छीय विद्वानों ने आगमिक व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों की भी रचना की है। उन्होंने एतद्विषयक ग्रन्थों की व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं और स्वतन्त्र रूप से भी लिखा है। सैद्धान्तिक ग्रन्थकारों में आचार्य अभयदेवसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनप्रभसूरि, गणि रामदेव, महोपाध्याय समयसुन्दर, उपाध्याय देवचन्द्र, उपाध्याय क्षमा कल्याण, चिन्दानन्द आदि प्रमुख हैं।

सैद्धान्तिक प्रकरण-ग्रन्थों में जैन धर्म सम्मत मान्यताओं का ऊहापोह किया गया है। खरतरगच्छ ने लगभग दो सौ महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रकरण ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से निम्न ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—जिनवल्लभसूरि कृत सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार और आगमिक वस्तु विचारसार, उपाध्याय कमलसंयम कृत सिद्धान्तसारोद्धार, गणि प्रबोधचन्द्र कृत, सन्देहदोलावलि बृहद्वृत्ति, जिनभद्रसूरि कृत द्वादशांगी प्रमाण कुलक, नयकुंजर कृत प्रवचन-विचारसार, महोपाध्याय समयसुन्दर कृत गाथा-सहस्री, उपाध्याय देवचन्द्र कृत विचारसार स्तवक, नयचक्रसार, द्रव्यप्रकाश, अध्यात्म-प्रबोध, उपाध्याय क्षमा-कल्याण कृत परसमयसारसंग्रह, उपाध्याय शिवचन्द्र कृत सिद्धि-सप्ततिका आदि।

(३) वैधानिक एवं सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरमूलक साहित्य :—जैन धर्म में विभिन्न गच्छों एवं समुदायों में भेद मुख्यतः विधि-विधान सापेक्ष है। प्रत्येक गच्छ की धार्मिक क्रिया एवं विधि-विधान दूसरे गच्छ से कुछ भिन्नता लिये रहते हैं। खरतरगच्छ की परम्परा में

मान्य विधि-विधानों को मुनियों ने साहित्य में निबद्ध किया है। इस गच्छ ने अपनी मूल मान्यताओं पर अडिग रहते हुए देशकालानुरूप विधि-विधान परिवर्तन भी स्वीकार किया है। इस उपशीर्षक के अन्तर्गत हम खरतरगच्छ के कतिपय महत्त्वपूर्ण वैधानिक ग्रन्थों के नाम प्रस्तुत करेंगे। इस सन्दर्भ में उन ग्रन्थों को भी सम्मिलित कर रहें हैं जिनमें शास्त्रीय सिद्धान्त की गहनतम विवेचना की गई है। ये ग्रन्थ मुख्यतः प्रश्नोत्तर-परम्परा का निर्वाह करते हैं। इनमें मुख्यतः शिष्य द्वारा प्रस्तुत की गई जिज्ञासाओं का निवारण एवं समाधान है। एतद् सम्बन्धित शताधिक ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं। उनमें सर्वाधिक ग्रन्थ महोपाध्याय समयसुन्दर एवं चिदानन्द के प्राप्त हुए हैं। कतिपय महत्वपूर्ण ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है—वर्धमानसूरि का आचार-दिनकर, जिनप्रभसूरि रचित विधि-मार्ग-प्रपा, उपाध्याय गुणविनय कृत कुमतिमत-खंडन, महोपाध्याय समयसुन्दर कृत विचार-शतक, विशेष-शतक, विशेष-संग्रह, विसंवाद-शतक, समाचारी-शतक, उपाध्याय देवचन्द्र कृत विचाररत्न-सार, जिनमणिसागरसूरि कृत मुंहपति-निर्णय, पर्युषण-निर्णय, बालचन्द्रसूरि कृत निर्णय-प्रभाकर चिदानन्द कृत आत्मभ्रमोच्छेदन-भानु, कुमतकुलिंगोच्छेदन-भास्कर, जिनाज्ञाविधिप्रकाश, आदि।

(४) योग एवं ध्यानपरक साहित्य :—इस सन्दर्भ में खरतरगच्छाचार्यों का विस्तृत साहित्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। जो प्राप्त हुआ है, उसमें उपाध्याय मेरुसुन्दर कृत योगप्रकाश-बालावबोध, योगशास्त्र बालावबोध, उपाध्याय शिवनिधान कृत योगशास्त्र स्तवक, और सुगनचन्द्र कृत ध्यानशतक बालावबोध के नाम कथनीय हैं।

(५) दर्शन एवं न्याय-साहित्य :—खरतरगच्छ में अनेक तत्त्व-चिन्तक, दार्शनिक एवं न्यायपरक प्रतिभा के धनी महापुरुष हुए हैं। दर्शन एवं न्याय के दुरूह से दुरूह विषयों को खरतरगच्छाचार्यों ने

शीघ्रबोधगम्य बनाने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी मौलिक दृष्टियाँ भी प्रदान कीं। 'प्रमालक्ष्म' जैसा अद्वितीय दार्शनिक ग्रन्थ खरतरगच्छ ने ही प्रदान किया है। यहाँ हम कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों का उल्लेख कर रहे हैं—

आचार्य जिनेश्वरसूरि कृत प्रमालक्ष्म, देवभद्रसूरि कृत प्रमाण-प्रकाश, जिनप्रबोधसूरि कृत पंजिकाप्रबोध, सोमतिलकसूरि कृत षड्दर्शन समुच्चय टीका, दयारत्न कृत न्यायरत्नावली, सुमतिसागर कृत तत्त्वचिन्तामणि टिप्पणक, गुणरत्न कृत तर्कभाषा प्रकाश, तर्कतरंगिणी, उपाध्याय समयसुन्दर कृत मङ्गलवाद, चारित्रनन्दी कृत स्याद्वाद्-पुष्प-कलिका-स्वोपज्ञ-टीका-सह।

(६) व्याकरण-साहित्य :—व्याकरण पर पचासों खरतरगच्छीय विद्वानों ने अपनी कलम चलाई है। खरतरगच्छ में अनेकानेक उद्भट वैयाकरण पंडित हुए हैं। आचार्य बुद्धिसागरसूरि ने तो पाणिनी और हेमचन्द्र की तरह स्वतन्त्र संस्कृत-व्याकरण परिगुम्फित किया था। अन्य भी अनेक छोटे-बड़े व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गये। यथा—बुद्धिसागरसूरि कृत शब्द-लक्ष्म-लक्षण, मन्त्रिमण्डन कृत उपसर्गमण्डन, सारस्वत-मण्डन, जिनचन्द्रसूरि कृत सिद्धान्तरत्निका व्याकरण, उपाध्याय समयसुन्दर कृत सारस्वत-रहस्य, अनिट्कारिका, हैमलिङ्गा-नुशासन-अवचूर्णि, उपाध्याय श्रीवल्लभ कृत सिद्धहेमशब्दानुशासन टीका, विमलकीर्ति कृत पद-व्यवस्था, सहजकीर्ति कृत ऋजुप्राज्ञव्याकरण, साधुसुन्दर कृत धातुरत्नाकर-क्रियाकल्पलता, विशालकीर्ति कृत प्रक्रिया कौमुदी टीका, तिलक गणि कृत प्रकृत शब्द समुच्चय, भक्ति-लाभ कृत बालशिक्षा-व्याकरण, ज्ञानतिलक कृत सिद्धान्तचन्द्रिका टीका सह, जिनहेमसूरि कृत सिद्धान्त-रत्नावली।

(७) कोष-साहित्य :—कोष-साहित्य में सहजकीर्ति कृत सिद्ध शब्दार्णव-नामकोष, साधुसुन्दर कृत शब्दरत्नाकर, साधुकीर्ति कृत

विशेष नाममाला और चारित्रसिंह कृत अभिधान चिन्तामणि नाममाला आदि नाम उल्लेखनीय हैं। खरतरगच्छीय विद्वानों ने विभिन्न कोशों पर टीका-ग्रन्थ भी लिखे हैं। उल्लेखनीय टीकाएँ हैं—जिनप्रभसूरि रचित अनेकार्थ-संग्रह-टीका, धर्मवर्धन रचित अमरकोष टीका, उपाध्याय श्रीवल्लभ रचित हैमनिघण्टु कोष टीका।

(८) काव्य-लक्षण-छन्द-साहित्य :—साहित्य एवं काव्य-क्षेत्र में खरतरगच्छ का अनुदान विशेष उपलब्धिपूर्ण है। काव्य के लक्षणों, छन्दों के नियमों का खरतरगच्छीय विद्वानों ने पूर्ण विवरण दिया है। 'छन्दोनुशासन' इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुशललाभ का पिङ्गलशिरोमणि संस्कृत छन्द शास्त्र का सबसे पहला और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पिंगलऋषि प्रणीत छन्दःशास्त्र पर आधारित है। प्रसिद्ध छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ 'वृत्तरत्नाकर' पर क्षेमहंस, उपाध्याय मेरुसुन्दर और समयसुन्दर के महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। 'वाग्भटालंकार' पर जिनवर्धनसूरि, क्षेमहंस, उदयसागर, ज्ञानप्रमोद, राजहंस, समयसुन्दर, साधुकीर्ति, मेरुसुन्दर आदि विद्वान् मुनियों की टीकाएँ प्राप्त हुई हैं। विदग्धमुखमण्डन पर जिनप्रभसूरि मेरुसुन्दर, श्रीवल्लभ, शिवचन्द्र, विनयसागर की व्याख्याएँ उपलब्ध हुई हैं। काव्य-लक्षण छन्द से सम्बन्धित जो और भी ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, उनमें से कुछेक के नाम निम्नलिखित हैं—बुद्धिसागरसूरि का छन्दशास्त्र, वाचक धर्मनन्दन का छन्दस्तत्त्वसूत्र, जिनप्रबोधसूरि का वृत्तप्रबोध, ज्ञानसार का मालापिंगल, मन्त्रिमण्डन का अलंकारमण्डन, ज्ञानमेरु का कविमुखमण्डन, गुणरत्न का काव्यप्रकाशटीका, कीर्तिवर्द्धन का चतुरप्रिया, उदयचन्द्र का पाण्डित्यदर्पण, अनूपशृंगार, महिमसिंह का रसमंजरी आदि।

(९) संगीत-साहित्य :—बाहड़ के पुत्र मन्त्रि-मण्डन न केवल खरतरगच्छ के, वरन् समग्र भारतीय विद्वत् जगत् के अनूठे कोहिनूर

थे। उन्होंने धर्म-निरपेक्ष विद्वत्भोग्य साहित्य का निर्माण किया था। उनकी संगीत से सम्बन्धित एक कृति प्राप्त हुई है—सङ्गीत-मण्डन। खरतरगच्छ का संगीत से सम्बन्धित अन्य कोई साहित्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।

(१०) वास्तु-मुद्रा-रत्न-धातु-साहित्य :—एतद्-सम्बन्धित ठक्कुर-फेरू की पाँच रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—वास्तुसार प्रकरण, द्रव्य परीक्षा, धातुत्पत्ति, भूगर्भप्रकाश, और रत्नपरीक्षा। खरतरगच्छ की ये पाँचों कृतियाँ काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

(११) मंत्र-साहित्य :—मंत्र साधनामूलक जीवन का एक अंग है। ध्यान, साधना अथवा जप करने वाला प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी मंत्र को अपनी साधना का अंग अवश्य बनाता है। खरतरगच्छ में अनेक मंत्र-सिद्ध-पुरुष हुए हैं। खरतरगच्छाचार्यों द्वारा समय-समय पर अनेक चामत्कारिक घटनाएँ हुईं। वस्तुतः उन घटनाओं की पृष्ठ भूमि में उनके मन्त्र बल का ही प्राधान्य है। खरतर गच्छ की परम्परा में विविध विद्वानों ने मन्त्र-सम्बद्ध साहित्य का सृजन किया है। उनमें से कतिपय प्रतिष्ठित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—पूर्णकलश कृत महाविद्या, जिनप्रभसूरि रचित सूरिमन्त्रकल्प, संघतिलकसूरि रचित वर्धमान विद्या कल्प।

(१२) आयुर्वेद साहित्य :—आयुर्वेद औषधि-विज्ञान है। खरतर-गच्छीय यति मुनियों ने इसे स्वास्थ्य-प्रदायक एवं समाज हितकारी कार्य समझा। यद्यपि यह कार्य समाज के लिए कल्याणकारी है, किन्तु मुनि धर्म की मर्यादाओं के अनुकूल नहीं है। इसीलिए चारुचन्द्रसूरि रचित वातशितम को छोड़कर एक भी खरतरगच्छीय आयुर्वेदीय ग्रन्थ १८ वीं शती से पूर्व का नहीं है। १८वीं शती अथवा उसके पश्चात लिखित अधिकांश आयुर्वेदीय ग्रन्थ यतिवर्ग द्वारा लिखित है, अथवा यतिवर्ग से प्रभावित हैं। इन ग्रन्थों में प्रमुख हैं—चारुचन्द्र सूरि

रचित वातशितम् , गुणविलास कृत गुणरत्नप्रकाशिका, रघुपति कृत भोजन-विधि, हंसराज पिप्पलक लिखित मूत्र-लक्षण, रत्नजय लिखित योगचिन्तामणि बालावबोध, रामचन्द्र कृत रामविनोद वैद्यक, चैनसुख लिखित वैद्य जीवन स्तवक।

(१३) ज्योतिषी-साहित्य :—स्वाभाविकतया मानव अपने भविष्य को जानने का इच्छुक रहता है। ज्योतिष-शास्त्र इस कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार फलसिद्धान्त कर्मवाद पर आधारित है, तथापि ज्योतिष विद्या को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। खरतरगच्छीय साहित्यकारों ने इस विषय पर गहनतम विवेचन किया है और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अर्जित की है। ज्योतिष साहित्य से सम्बन्धित खरतरगच्छीय प्राचीनतम ग्रन्थ बर्धमानसूरि (१२वीं शती) का शुकनरत्नावली उपलब्ध है। ज्योतिष सम्बन्धित उल्लेखनीय एवं सर्वाधिक ग्रन्थ खरतरगच्छीय मुनियों ने १८वीं शताब्दी में लिखे हैं। इस शताब्दी में लिखित ३० से अधिक ग्रन्थ अधुना उपलब्ध हैं। ज्योतिष सम्बन्धित खरतरगच्छीय महत्त्वपूर्ण साहित्य निम्न है—वर्धमानसूरि रचित शुकनरत्नावली, मुनिसुन्दर रचित करणराज गणित, लक्ष्मीवल्लभ रचित कालज्ञानभाषा, रायचन्द्र रचित अवयदी शकुनावली, लाभबर्द्धन रचित अङ्कप्रस्तार, हीरकलश रचित जोइसहीर, पुण्यतिलक रचित ग्रहायु, महिमोदय रचित ज्योतिष-रत्नाकर, पंचांगानयनविधि, प्रेम ज्योतिष, जन्मपत्री पद्धति, कीर्तिवर्द्धन रचित जन्म-प्रकाशिका-ज्योतिष, रामविजय रचित मुहूर्तमणिमाला, भूधरदास रचित भौधरी-ग्रहसारणी, रामचन्द्र रचित सामुद्रिक भाषा, चिदानन्द रचित स्वरोदय।

(१४) महाकाव्य तथा टीका-साहित्य :—खरतरगच्छ की विद्वद्परम्परा ने महाकाव्य एवं टीका-साहित्य की सैकड़ों कृतियां मां भारती के भण्डार के लिए अर्पित की हैं, जिनका इतिहास, समाज एवं

आत्मोत्थान से गहरा सम्बन्ध है। जिन महाकाव्यों एवं टीका-ग्रन्थों की खरतरगच्छीय विद्वानों ने रचना की है, वे जीवन की विषाक्तता मिटाने के लिए अमृत-वर्षण हैं, शास्त्रीय शब्दार्थों को समझने के लिए एक विनम्र मार्गदर्शन है। प्रमुख ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—

उपाध्याय चन्द्रतिलक रचित अभयकुमार चरित महाकाव्य, मंत्री मंडन रचित कादम्बरी मंडन, काव्य मंडन, चम्पू मंडन, चन्द्रविजया, महोपाध्याय समयसुन्दर रचित अष्टलक्षी, धर्मचन्द्र रचित कर्पूरमंजरी षट्क टीका, उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ रचित कुमारसम्भव-टीका, जिनसमुद्रसूरि रचित तत्त्वप्रबोध-नाटक, विनयसार रचित नलवर्णन-महाकाव्य, कीर्तिरत्नसूरि विरचित नेमिनाथ-महाकाव्य, उपाध्याय लक्ष्मीतिलक रचित प्रत्येक बुद्ध-महाकाव्य, उपाध्याय श्री वल्लभ रचित विजय देव माहात्म्य महाकाव्य, विद्वद् प्रबोध काव्य, उपाध्याय जिनपाल रचित सनत्कुमार चक्री-चरित्र महाकाव्य, ललितकीर्ति रचित शिशुपाल-वध महाकाव्य-टीका, सन्देह-ध्वान्त-दीपिका।

(१५) कथामूलक काव्य-साहित्य :– प्राचीन जैन साहित्य ऐतिहासिक एवं प्रेरणादायी अनुपम कथानकों से आपूरित है। जैन आगम एवं आगमेतर साहित्य ऐसे कथानकों से अभिमंडित हैं जो वर्तमान जीवन की उधेड़बुन के साथ भी अपना सम्बन्ध रखते हैं। खरतरगच्छ की विद्वद् परम्परा ने अपनी सशक्त लेखनी के द्वारा उस कथा-साहित्य को प्रभावक सम्प्रेषणीयता के साथ प्रस्तुत किया है। शताधिक प्राप्त कथामूलक काव्य ग्रन्थों में से कुछेक ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं—वर्धमानसूरि लिखित उपमिति भव प्रपंचकथा, देवभद्र सूरि लिखित कथारत्नकोष, सोमतिलकसूरि लिखित कुमारपाल प्रबन्ध, संघतिलकसूरि लिखित धूर्ताख्यान, जिनप्रभसूरि लिखित विविध तीर्थ-कल्प, उपाध्याय जयसागर लिखित पृथ्वीचन्द्र चरित्र, उपाध्याय मेरु सुन्दर लिखित अंजनासुन्दरी-कथा, महोपाध्याय समयसुन्दर

लिखित कालिकाचार्य कथा, कथाकोष, द्रौपदी-संहरण, जिनराजसूरि लिखित जैन रामायण, वादी हर्षनन्दन लिखित आदिनाथ-व्याख्यान, कीर्ति सुन्दर लिखित वाग्विलास कथा संग्रह, राजलाभ लिखित स्वप्नाधिकार, उपाध्याय क्षमाकल्याण लिखित श्रीपालचरित्र-टीका, उपाध्याय लब्धिमुनि लिखित जिनदत्तसूरि चरित, जिनचन्द्रसूरि चरित, जिनकुशलसूरि चरित आदि।

(१६) रास-चौपाई आदि काव्य-साहित्य—काव्य के रूप में खरतरगच्छीय मुनियों ने जो साहित्य हिन्दी जगत् को दिया है वह सरल, उपयोगी और युग के यथार्थ दर्पण का प्रदर्शक है। वह धार्मिक, व्यवस्थामूलक तथा नैतिक पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित है। भाषा, वर्णन-कौशल, साहित्यक तत्त्व, विचार आदि सभी दृष्टियों से खरतरगच्छीय साहित्य भारतीय काव्य-परम्परा के गौरव को बढ़ाता है। इन काव्यों में खरतरगच्छीय साहित्यकारों ने उन व्यक्तियों को चरित्रनायक के रूप में ग्रहण किया है, जो जन-समाज के लिए आदर्शभूत हैं। इनमें कुछ चरित्र जैन आगमों एवं आगमेतर साहित्य में से ग्रहण किये गये हैं तथा कुछ काल्पनिक भी हैं। रास-चौपाई आदि के निर्माण में खरतर-गच्छीय मुनियों ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। खरतरगच्छीय मुनियों द्वारा लिखित सहस्राधिक रास, चौपाई आदि उपलब्ध हैं। इनमें विनयप्रभोपाध्याय द्वारा रचित गौतमस्वामी रास ने सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। विक्रम की १७ वीं एवं १८ वीं शती में खरतर-गच्छीय साहित्यकारों ने विपुल रास चौपाई लिखे हैं। एतद् सम्बन्धित सहस्राधिक ग्रन्थों में कुछेक उल्लेखनीय हैं—

विजयतिलक कृत जम्बूस्वामी फाग, पद्म कृत शालिभद्र-कक्क, समयसुन्दर कृत शाम्ब-प्रद्युम्न चौपाई, चार प्रत्येकबुद्ध-रास, शत्रुंजय रास, सीताराम-चौपाई, मृगावती-रास, थावच्चा-चौपाई, नल दमदन्ती रास, भुवनकीर्ति कृत भरत-बाहुबली रास, उपाध्याय गुणविनय कृत

धन्ना-शालिभद्र-चौपाई, करमचंद-वंशावली-रास, अंजनासुन्दरी प्रबन्ध, नयसमुद्र-शिष्य कृत जिनप्रतिमा-वृहत् रास, जयनिधान कृत कामलक्ष्मी-कथा-चौपाई-प्रबन्ध, कनकसोम कृत आर्द्रकुमार धमाल, हीरकलश कृत अर्हद्दास-चौपाई, रंगकुशल कृत अमरसेन-वयरसेन सन्धि, जिनहर्ष कृत हरिश्चन्द्र रास, अभयकुमार रास, आरामशोभा चौपाई, उपमिति-भवप्रपंच-कथारास, कुमारपाल रास, रत्नशेखर-रत्नावती रास, विद्याविलास रास, नयप्रमोद कृत अरहन्नक-प्रबन्ध, विद्याविलास कृत अर्जुनमाली चौपाई, राजसोम कृत इंदर-रासो, विनयचन्द्र कृत उत्तमकुमार चौपाई, मतिकुशल कृत चन्द्रलेहा चौपाई, अभयसोम कृत चन्द्रोदय-कथा, जिनसुन्दरसूरि कृत भीमसेन चौपाई, सुमतिधर्म कृत भुवनानन्द-चौपाई, खेता कृत भोसउ रासो, रघुपति कृत रुघरास, कीर्तिवर्धन कृत सुदर्शन चौपाई, अभयसोम कृत वस्तुपाल-तेजपाल रास, दयातिलक कृत विक्रमादित्य चौपाई, कुशलसागर कृत वीरभाण-उदयभाण चौपाई, लालचन्द कृत श्रीपाल रास, फकीरचन्द कृत बुड्ढा रास, गिरधरलाल कृत पदमण रासो, खुश्यालचन्द कृत अरहदास चौपाई आदि।

(१७) भक्तिपरक-साहित्य :—खरतरगच्छ का भक्तिपरक साहित्य अपरिमित है। भक्त कवियों एवं विद्वान् मुनिराजों ने तीर्थंकरों के प्रति जो भाव-उर्मियाँ व्यक्त की हैं, वे इतनी जीवन्त हैं कि व्यक्ति को सहज ही भक्ति-सागर में रसलीन कर देती हैं। भाव, अलंकार, शैली, लय—सभी आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक हैं।

खरतरगच्छ में हिन्दी भाषी भक्त कवियों में सर्वप्रथम महोपाध्याय समयसुन्दर का नाम उल्लेख्य है। उनके पाँच सौ से अधिक भक्तिपरक गीत अब तक उपलब्ध हो चुके हैं। खरतरगच्छीय भक्ति काव्य परम्परा में दो कवियों के नाम यहाँ विशेष उल्लेखनीय हैं, वे हैं योगीराज आनन्दघन एवं उपाध्याय देवचन्द्र। समग्र जैन भक्त कवियों

में इनकी टक्कर के कवि इने-गिने मिलेंगे। आचार्य कवीन्द्रसागरसूरि का भी भक्ति-साहित्य प्रतिष्ठित है।

खरतरगच्छीय भक्त कवियों ने भक्तिपरक स्वतन्त्र गीत लिखने के साथ चौबीस तीर्थंकरों का क्रमिक स्तुतिपरक साहित्य भी निबद्ध किया है। खरतरगच्छ में स्तुतिपरक साहित्य पृथक्-पृथक् रूपों में प्राप्त होता है।

भक्तिपरक वीसी-साहित्य में जिनराजसूरि, जिनहर्ष, विनयचन्द्र, देवचन्द्र ज्ञानसार आदि कवियों की 'वीसी' उल्लेखनीय है। चौवीसी-साहित्य में जिनलाभसूरि, जिनहर्ष, आनन्दघन, देवचन्द्र आदि की चौबीसियों कथनीय हैं। क्षमाप्रमोद कृत चौवीसजिन-पंचाशिका भी द्रष्टव्य हैं।

पूजापरक-साहित्य भी सुविशाल है। खरतरगच्छ में पूजा-साहित्य की रचना करनेवालों में उपाध्याय देवचन्द्र, चारित्रनन्दी, सुमतिमण्डन, ऋद्धिसार, जिनहरिसागरसूरि, कवीन्द्रसागरसूरि के नाम प्रमुख हैं।

मुनि ग्रामानुग्राम विचरण करते है। अतः उनसे तीर्थ-यात्राएँ सहजतः हो जाती हैं। खरतरगच्छीय कवियों ने भिन्न-भिन्न तीर्थों के प्रति अपनी आस्थांजलि प्रकट करते हुए अभिनव रचनाएँ लिखी हैं। उन्होंने तीर्थों की तत्कालीन स्थिति एवं शिल्प-कला का भी लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। जैसे—सुमतिकल्लोल कृत तीर्थमाला, गुणविनय कृत शत्रुंजय चैत्य-परिपाटी, अमरसिंदूर कृत जैसलमेर पटवासंघ वर्णन, रंगसार कृत गिरनार-चैत्य-परिपाटी, दयारत्न कृत कापरहेड़ा रास आदि।

अनेक कवियों ने भक्ति के विभिन्न अंगों पर साहित्य लिखते हुए 'बारहमासे' का भी ललित वर्णन किया है। जिनहर्ष द्वारा बारह मासों का किया गया चित्रांकन सबसे सुन्दर है।

(१८) **पर्व-सम्बन्धित-साहित्य :**—जैनधर्म में प्रतिवर्ष भिन्न-भिन्न प्रकार के धार्मिक त्यौहार मनाये जाते हैं। जैन लोग धार्मिक पर्वों के दिन अन्य धार्मिक क्रियाओं के साथ गुरु-महाराजों के मुख से पर्व-सम्बन्धित प्रवचन भी सुनते हैं।

खरतरगच्छीय विद्वानों ने विशाल पैमाने में पर्व-सम्बन्धित साहित्य का गुम्फन किया है। उल्लेखनीय ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—महोपाध्याय समयसुन्दर कृत दीपमालिका-काव्य, उपाध्याय क्षमाकल्याण कृत चातुर्मासिक-व्याख्यान, आनन्दवल्लभ कृत अष्टाह्निका व्याख्यान, आनन्दसागरसूरि कृत द्वादश पर्व-व्याख्यान आदि।

(१९) **गुर्वावली एवं पट्टावली-साहित्य :**—खरतरगच्छ की पट्ट-परम्परा सुविशाल है। अनेक विद्वानों ने अपनी गुरु-परम्परा का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। कतिपय विद्वानों ने अपनी गुरु-परम्परा का उत्स भगवान् महावीर से जोड़ा है। बहुत से विद्वानों ने आचार्य जिनेश्वरसूरि और आचार्य वर्धमानसूरि से अपनी गुरु-परम्परा का सम्बन्ध योजित किया है। वस्तुतः आचार्य जिनेश्वरसूरि या वर्धमानसूरि भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा की ही एक कड़ी है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गुर्वावलियों एवं पट्टावलियों का महत्त्व निर्विवाद है। खरतरगच्छ की सर्वाधिक प्रामाणिक पट्टावली/गुर्वावली उपाध्याय जिनपाल कृत खरतरगच्छालंकार-युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली मानी जाती है। उपाध्याय क्षमाकल्याण लिखित खरतरगच्छ-पट्टावली भी काफी महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त गुर्वावली एवं पट्टावली-साहित्य के अन्तर्गत उपाध्याय समयसुन्दर कृत खरतरगच्छ-पट्टावली, उपाध्याय गुणविनय कृत खरतरगच्छ गुर्वावली, ऋद्धिसार कृत महाजनवंश मुक्तावली उल्लेखनीय हैं।

(२०) **औपदेशिक साहित्य :**—इसके अन्तर्गत हम खरतरगच्छ के उस साहित्य की चर्चा करना चाहेंगे जिसमें वैराग्यमूलक एवं नीति-

परक उपदेशों का आकलन किया गया है। जनहित के लिए उपदेश देना मुनि का धर्म है, अतः उसके साहित्य में उपदेशपरक तथ्यों की बहुलता होनी स्वाभाविक है। यों तो प्रत्येक मुनिका साहित्य किसी-न-किसी औपदेशिक उद्देश्य से समन्वित होता है। पर यहाँ हम मात्र उसी साहित्य का उल्लेख करना चाहेंगे जो विशुद्ध आद्योपान्त उपदेश-परक ही है। यथा—जिनेश्वरसूरि लिखित उपदेशकोष, जिनचन्द्रसूरि लिखित संवेगरंगशाला, जिनवल्लभसूरिलिखित धर्मशिक्षाप्रकरण जिनदत्तसूरि रचित गणधरसार्धशतक-प्रकरण, जिनरत्नसूरि लिखित उत्तमपुरुष-कुलक, राजहंसलिखित जिनवचनरत्न-कोष, अभयचन्द्र लिखित रत्नकरण्ड, पुण्यनन्दी लिखित रूपकमाला, चारित्रसिंह लिखित शीलकल्पद्रुम-मंजरी, उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ कृत भावना-विलास, पुण्यशील लिखित ज्ञानानन्द-प्रकाश, जिनलाभसूरि लिखित आत्म-प्रबोध आदि।

उक्त सभी ग्रन्थ बृहत् एवं संस्कृत-निबद्ध हैं। मरुगुर्जर-भाषा (प्राचीन हिन्दी भाषा) में भी औपदेशिक साहित्य की रचना हुई। यह साहित्य गीतों एवं पदों में रचित है। उपदेशपरक हजारों पद मिलेंगे। एक-एक कवि ने सैकड़ों उपदेशपरक पद एवं गीत लिखे हैं। स्वतन्त्र पदों एवं गीतों के अलावा सामूहिक रूप में भी मिलेंगे। कवियों ने उन्हें पच्चीसी, बत्तीसी, बावनी, सित्तरी, बहुत्तरी, सईकी आदि नाम दिये हैं। प्रमुख कृतियों के नाम निम्नांकित हैं—

लालचन्द रचित राजुल-पच्चीसी, जिनसमुद्रसूरि रचित कौतुक-पच्चीसी, रघुपति रचित उपदेश-पच्चीसी, भीमराज रचित सप्तभंगी-पच्चीसी आदि।

जिनराजसूरि रचित कर्म-बत्तीसी, गुणलाभ रचित जीभ-बत्तीसी, जयचन्द्र रचित नवकार-बत्तीसी, अमरविजय रचित अक्षर-बत्तीसी, उपदेश-बत्तीसी, पूजा-बत्तीसी, कीर्तिवर्धन रचित भ्रमर-बत्तीसी, क्षमा-

कल्याण रचित हितशिक्षा-बत्तीसी, लक्ष्मीवल्लभ रचित राजबत्तीसी, जिनहर्ष रचित ऋषि-बत्तीसी।

जिनहर्ष रचित आहार-दोष-छत्तीसी, श्रीसार रचित आगम-छत्तीसी, ज्ञानमेरु रचित कुगुरु-छत्तीसी, धर्मवर्धन रचित गुरुशिष्य-दृष्टान्त छत्तीसी, सवा सौ सीख छत्तीसी, समयसुन्दर रचित प्रस्ताव सवैया छत्तीसी, सत्यासिया दुष्काल-वर्णन-छत्तीसी, क्षमा-छत्तीसी, शील-छत्तीसी।

जयचंद रचित कवित्त-बावनी, धर्मवर्धन रचित छप्पय बावनी, कुंडलिया-बावनी, मुनिवस्ता रचित अन्योक्ति-बावनी, रघुपति रचित छप्पय-बावनी, जिनहर्ष रचित मातृका-बावनी, महिमसिंह रचित योग-बावनी।

सहजकीर्ति रचित व्यसन सत्तरी, श्रीसार रचित उपदेश-सत्तरी, जिनहर्ष रचित समकित-सत्तरी।

श्रीसार रचित उत्पत्ति बहुत्तरी, जिनहर्ष रचित नंद-बहुत्तरी, चिदानन्द रचित पद-बहुत्तरी, ज्ञानसार रचित पद-बहुत्तरी, जिनरंगसूरि रचित रंग-बहुत्तरी।

जयचंद रचित सईकी।

(६) साम्प्रदायिक सहिष्णुता

खरतरगच्छ स्वयं एक सम्प्रदाय है, किन्तु वह सम्प्रदाय-विशेष में आबद्ध नहीं है। वह न केवल अन्य गच्छों के प्रति, अपितु अन्य धर्म-परम्पराओं के प्रति भी अपनत्व रखता है। साम्प्रदायिक सहिष्णुता और उदारता खरतरगच्छ की निजी विशेषता है। इसके अनुसार जब तक आँखों से साम्प्रदायिक संकीर्णता एवं आग्रहवादिता की पट्टी नहीं हटाई जायेगी, तब तक व्यक्ति या समाज सत्य-दर्शन नहीं कर पायेगा।

खरतरगच्छ के मुनियों की साम्प्रदायिक उदारता सभी गच्छों के लिए एक आदर्श है। खरतरगच्छ के बहुत से विद्वान् आचार्यों ने अन्य गच्छों के साधुओं को विद्यादान दिया है, उनके सहयोग एवं सहकार से साहित्य का निर्माण एवं संशोधन किया है, उनके विविध शासन-प्रभावक कार्यों में अपनी सन्निधि दी है। अनेक खरतरगच्छीय मुनियों ने दिगम्बर-तीर्थों की भी यात्राएँ की हैं। अन्य गच्छीय या अन्य लिंगी साधुओं को यथोचित सम्मान देना भी इस गच्छ का प्रमुख वैशिष्ट्य है।

खरतरगच्छ के विद्वान मुनियों ने अन्य धर्म के ग्रन्थों पर विद्वतापूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं। खरतरगच्छीय मुनियों ने तपागच्छीय प्रतिभाओं का भी गुणगान किया है। उपाध्याय श्रीवल्लभ ने आचार्य विजयदेवसूरि के सम्बन्ध में 'विजयदेव-माहात्म्य' और महोपाध्याय समयसुन्दर ने महातपस्वी पुंजा ऋषि के सम्बन्ध में श्री पुंजा ऋषि रास लिखकर खरतरगच्छ की उदारवादिता का प्रकृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं, समयसुन्दर ने अपने समकालीन तपागच्छीय प्रभावक आचार्य हीरविजयसूरि की मुक्त कंठ से स्तुति भी की है। जिनहर्ष ने सत्यविजय निर्वाण रास लिखा है।

इस गच्छ की मान्यता है कि हमें आग्रहवादी नहीं बनना चाहिये। दूसरे के सत्य को अस्वीकार नहीं करना चाहिये एवं वैचारिक संघर्ष की भूमिका तैयार नहीं करनी चाहिये। 'वीतराग-सत्य-वचन-गीत' में लिखा है कि जैनधर्म, जैनधर्म सभी चिल्लाते हैं, लेकिन सभी अपने-अपने मतों की ही स्थापना करते हैं, न कि जैनधर्म के सिद्धान्तों की। सभी जैनधर्म के अनुयायी हैं, लेकिन सबकी समाचारी, सबका आचरण अलग-अलग है। लोग इतने आग्रहवादी हैं कि दूसरे के सत्य को मान्य ही नहीं करते। ऐसे लोगों का कहना हैं कि हम ही केवल सच्चे हैं, दूसरे झूठे हैं। स्वमत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा

करना खरतरगच्छ के अनुसार अनुचित है। इसके अनुसार तो हम ही सच्चे ; दूसरे सब झूठे हैं—यह कहना छोड़ देना चाहिये। सत्य तो वही है, जो वीतराग देव-कथित है।[1]

खरतरगच्छीय एक प्रमुख तत्त्व चिन्तक महोपाध्याय समयसुन्दर के विचार यहाँ उल्लेखनीय हैं। उनके विचार इस बात को स्पष्ट कर देंगे कि खरतरगच्छ एक सम्प्रदाय-विशेष होते हुए भी कितना उदार, अनाग्रही और समन्वयवादी है। समयसुन्दर कहते हैं कि इस समय चौरासी गच्छ मुख्य रूप से देखे जाते हैं, लेकिन उन सबके भिन्न-भिन्न आचार हैं। सभी गच्छानुयायी अपने-अपने गच्छ को एक-दूसरे से श्रेष्ठ बता रहे हैं। अब ऐसी स्थिति में व्यक्ति सोचता है कि हमें किस गच्छ की विधि करनी चाहिये। इस समय परम ज्ञानी कोई विद्यमान नहीं है, जिससे शंका का निवारण किया जा सके। अतः उनका सुझाव है कि सभी को अपने-अपने गच्छ की क्रिया करनी चाहिये। आक्षेप-प्रत्याक्षेप कभी नहीं करना चाहिये। किसी भी गच्छ के प्रति अप्रीति नहीं रखनी चाहिये। आक्षेप-प्रत्याक्षेप कभी नहीं करना चाहिये। किसी भी गच्छ के प्रति अप्रीति नहीं रखनी चाहिये।

समयसुन्दर बताते हैं कि जिनशासन में गच्छों के कारण बहुत संघर्ष हुए हैं और पता नहीं अभी तक कितने संघर्ष होंगे। सभी लोग अपने-अपने गच्छों के प्रति इतना ममत्व रखते हैं और उसे ही पकड़ कर बैठ गये हैं।[2] यह कौन जानता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है ? सूत्र सिद्धान्त सबके वही हैं। इसलिए तुम परमार्थ को समझो। अपने हृदय में मंथन करके सोचो कि तुमने गच्छवाद में पड़कर कितना राग-द्वेष किया है।

तपागच्छवाले कहते हैं 'इरियावही' सामायिक-पाठ उच्चारण करने

---

१ वीतराग-सत्यवचन गीतम्, समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि, पृष्ठ ४४७

२ वीतराग सत्यवचन गीतम्, समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि, पृष्ठ ४४७

से पहले होती है, जबकि खरतरगच्छवाले कहते हैं, 'इरियावही' सामायिक-पाठ ग्रहण करने के बाद होती है। अचलगच्छवाले मुँहपत्ति (मुखवस्त्रिका) के बारे में अन्य दृष्टिकोण रखते हैं, लौंकागच्छवाले जिनप्रतिमा-पूजन का विरोध करते हैं, तो ढुँढ़क (दिगम्बर) स्त्री-मुक्ति को नहीं मानते हैं। समयसुन्दर का कथन है कि इनमें से कोई भी यदि केवली के समीप जाएगा तो उसका संशय दूर हो जाएगा और यथार्थ स्थिति जान जाएगा। खरतर, तपा, आंचलिया, पार्श्वचन्द्र, आगमिया, पूनमिया, दिगम्बर, लुंका आदि चौरासी गच्छों के भी अनेक प्रकार हैं। अहंकारवश ये सभी अपने-अपने गच्छ की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु खरतरगच्छ इन आग्रहों के परे सत्य का दर्शन करते हैं। उसका कथन है कि भगवान् ने जो कह दिया है, उसी को कहा करो तथा उसी की स्थापना करने का प्रयत्न करो।

यह गच्छ केवल दूसरों को ही उदार बनाने के लिए नहीं कहता, अपितु अपने अनुयायियों को भी सावधान करता है। समयसुन्दर ने लिखा है कि यद्यपि हमारा गच्छ सबसे बड़ा है और व्याख्यान में सबसे अधिक इसी गच्छ में उपस्थिति होती है, किन्तु इस बात का कभी भी गर्व मत करना। समय का खेल बड़ा विचित्र है। समय-समय पर हानि भी होती हैं। कौन जानता है कि कौन-सा गच्छ प्रमाणभूत एवं जीवित रहेगा?

गच्छनायकों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि पूर्ववर्ती गच्छनायक अति महान्, क्षमाशील और गम्भीर हुआ करते थे, परन्तु सम्प्रति-कालीन गच्छनायक स्वेच्छानुसार आचरण करते हैं और यदि कोई उन्हें कुछ कहता है, तो वे उस पर कोई ध्यान नहीं देते। वस्तुतः उन पर कोई हटक नहीं है। उनके अनुसार वे गच्छनायक तर्कस में थोथे तीर के समान हैं और रात-दिन खिन्न रहते हैं।[१]

---

१ प्रस्ताव-सवैया-छत्तीसी (६, ७, ११, १२-१४)

उक्त सन्दर्भ से खरतरगच्छ की साम्प्रदायिक सहिष्णुता उजागर हो जाती है। साम्प्रदायिक कट्टरता का विष इस गच्छ की धमनियों में प्रवाहित नहीं है। इस सन्दर्भ में यह सदा-से जागरूक रहा है।

(१०) अन्य विशेषताएँ

जैन धर्मसंघ को खरतरगच्छ की देन बहु आयामी है। जहाँ उसने सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र समन्वित साधना के द्वारा अपने अन्तर-व्यक्तित्व को निखारा, तो वहीं विश्वहित के लिए भिन्न-भिन्न नैतिक मापदण्डों को अपनाया। खरतरगच्छ ने शासन-हित एवं मानव जाति के अभ्युदय के लिए जो-जो कार्य किये, उनमें से कतिपय बिन्दुओं पर हमने चर्चा की है। इनके अतिरिक्त भी सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय मंच पर खरतरगच्छ का अनुदान कथनीय है।

भगवान् महावीर के शासन के उन्नयन हेतु तो खरतरगच्छ समग्र-रूप से समर्पित है। खरतरगच्छाचार्यों की पावन निश्रा में हजारों जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएँ हुई हैं। भारत के विभिन्न जैन तीर्थों की चतुर्विध संघीय पद-यात्राएँ हुई हैं। जैन तीर्थों की समुचित व्यवस्था के लिए श्री आनन्द जी कल्याण जी पेढी जैसी राष्ट्रीय प्रबन्ध समितियाँ इस गच्छ ने ही स्थापित की हैं। प्राचीन हस्तलिखित धर्म-शास्त्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थालय 'जैसलमेर ज्ञानभण्डार' की संस्थापना भी खरतरगच्छ द्वारा ही हुई है। जैनों के प्रमुख तीर्थों में नाकोड़ा तीर्थ एक है। इसकी स्थापना भी खरतरगच्छ द्वारा ही हुई है। तीर्थराज सम्मेतशिखर, पावापुरी, क्षत्रियकुंड, चम्पापुरी, राणकपुर आदि तीर्थों में भी खरतरगच्छ का ही प्रभुत्व था, और है भी। महातीर्थ शत्रुंजय पर भी एक समय में खरतरगच्छ का सर्वाधिक प्रभाव था। वहाँ निर्मित 'खरतरवसही की टुंक' इसी गच्छ की देन है।

तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ तो सर्वत्र पूजनीय हैं, किन्तु गुरुओं की

मूर्तियों को प्रतिष्ठित एवं प्रसारित करने का श्रेय खरतरगच्छ को ही है। खरतरगच्छ भले ही एक परम्परा हो, किन्तु इसमें हुए दादा गुरु-देवों के प्रति निष्ठा प्रत्येक जैन के मन में है। आज भारत में दादा गुरुदेवों के दस लाख से भी ज्यादा भक्त हैं।

खरतरगच्छ में केवल धर्माचार्य ही नहीं पैदा हुए, वरन् बड़े-बड़े दानवीर भी जन्मे हैं। कर्मचन्द बच्छावत जैसे प्रबुद्ध महामन्त्री और मोतीशाह सेठ जैसे महादानवीर इसी गच्छ के समर्थक थे।

खरतरगच्छ साध्वी-समाज के विकास के लिए भी उदार-दृष्टिकोण रखता है। भारत पुरुष-प्रधान देश है, किन्तु खरतरगच्छ ने कभी भी नारी-जाति अथवा साध्वी-समाज के साथ उपेक्षामूलक व्यवहार नहीं किया। यद्यपि पुरुष के समकक्ष स्थान देने का साहस यह गच्छ न जुटा पाया, किन्तु अन्य गच्छों की अपेक्षा खरतरगच्छ अधिक उदार रहा। समग्र श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक परम्परा में खरतरगच्छ ने ही सबसे पहले साध्वी को प्रवचन देने का अधिकार दिया। परवर्ती काल में दूसरे गच्छों ने भी इस क्रान्तिकारी चरण का अनुमोदन एवं अनुसरण किया।

खरतरगच्छ का साध्वी-समाज शिक्षण एवं प्रशिक्षण काफी बढ़ा-चढ़ा है। इसने गच्छ के धर्मरथ को प्राणपण से खींचा है। निश्चय ही गच्छ को साध्वी-समाज ने काफी बल दिया।

'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' खरतरगच्छ का प्रथम नारा है। ज्ञान की अवहेलना तथा चारित्र की उपेक्षा ही एक सन्मार्ग को नष्ट करने के उपाय हैं। खरतरगच्छ इस दृष्टि से अपने अभ्युदय काल से ही जागरूक रहा है।

एक समन्वय के प्रति यह गच्छ सदा से निष्ठावान् रहा है। साम्प्रदायिक औदार्य इस गच्छ की अन्यतम विशेषता है। भावनात्मक

एकता, चारित्रात्मक निष्ठा एवं ज्ञानात्मक श्रम के लिए यह गच्छ समर्पित है।

अन्त में सं० १८५६ में 'रत्नसोम रचित-खरतर पच्चीसी' से खरतरगच्छ का माहात्म्य दर्शाने वाले कतिपय पद्यों को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनमें पूर्वकथित वैशिष्ट्य का संक्षिप्त उल्लेख है—

खरतर करणी साधु की, खरतर विद्या सिद्ध।
खरतर लच्छी थिर रहे, खरतर मोटी बुद्ध॥

खरो मार्ग खरतर कहै, खरो जे पाले धर्म।
खरवाते सुजश लहै, खरतर काटे कर्म॥

खरतर खरतर क्या करो, खरतर है जिनराज।
खरतर धर्म पाल्या थकी, सरेसु आतम काज॥

खरी बात खरतर कहै, खरी क्रिया पालंत।
खरा साधु जिनराज ना, तिण खरतर कहंत॥

खरतर शुद्ध क्रिया करे, खरतर बोले सांच।
खरतर सामी धर्म ना, खरतर गुरू ने जांच॥

खरतर सुं खूब हेतकर, खरतर गुरू ने सेव।
खरतर देवता जिके, खरतर सरखी टेव॥

खरतर नाम समरो सदा, खरतर देखो आप।
खरतर मार्गे चालतां, लागे कोई न पाप॥

खरतर कहलाय लियो, खरतर न पाल्यो मार्ग।
खरतर नाम धरायके, कहा जायेगो भाग॥

खरतर शुद्ध साधु तणी, सेवा कीजो आप।
खरतर जीत जग में भला, कापे भव-भव ना पाप॥

खरतर खरतर क्या करो, खरतर है जिन धर्म।
खरतर खूब किया करो, खरतर काटे कर्म॥

खरतर जिन भजन करे, खरतर साधु शील।
खरतर तप ध्यानी हुआ, खरतर सर्ग सलील॥

खरतर जग में जाणीये, श्रीजिन केरो मार्ग।
खरतर साधु पूजतां, कर्म जाए सब भाग॥

खरतर जति जैन का, खरतर बताव तत्त्व जेह।
तप ध्यान शील संतोष थी, नहिं इंद्रियों थी नेह॥

खरतर पंच व्रत पालसी, खरतर इन्द्रिय जीत।
खरतर मुनि के ध्यान से, नहिं उपजे कोई भीत॥

खरतर मद गाले सही, खरतर पाले मार्ग।
खरतर शुद्ध क्रिया करे, जाए कर्म सब भाग॥

खरतर जाति जग में भजी, खरतर साधु जेह।
खरतर क्रोड़ गौरी तजे, नहीं किसी से नेह॥

खरतर शुद्ध संजम बिसे, चले सरदहे सार।
खरतर मार्गे चालसी, जब उतरंसी पार॥

खरतर साधु के लय के, दमड़ी चमड़ी दाम।
बुद्ध नाम धराय के, नहीं सरे कोई काम॥

खरतर माया त्यागी, खरतर तजसी क्रोध।
खरतर वाणी सांच की, जीते आठ कर्म जोध॥

खरतर जीव दया परा, खरतर दूषण टाल।
खरतर शुद्ध संजम से, टले दुःख अरू काल॥

खरतर जोगी जैन का, खरतर साधु सन्त।
खरतर महाव्रत पालसी, सोहि मुक्ति वधु कन्त॥

खरतर मारग दाखियो, दाखी खरतर चाल।
वाणी है जिनराज की, मत देजो कोई गाल॥

रत्नसोम खरतर गुरू, भाखी सुखकर वाण।
माघ शीत घटती कला, नहीं किसी की कांण ॥
खरतर पच्चीसी खरी, कही चतुर चिद्रूप।
अज्ञानी सुण दुखी हुसी, पड़सी अन्धारे कूप ॥[1]

---

१ खरतर पच्चीसी, अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर।

द्वितीय खण्ड

खरतरगच्छ का आदिकाल

खरतरगच्छ वह सरित् प्रवाह है, जिसमें इतिहास की अनेकानेक धाराएँ समाहित हैं। उनमें कई धाराएँ निर्मल भी हैं तो कई कलुषित भी। इतिहास सबको समेटे चलता है। खरतरगच्छ ने जैन-धर्म-संघ में समागत विकृतियों का परिहार करने के लिए ही क्रान्ति को जन्म दिया था। स्वयं खरतरगच्छ ने भी अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं किन्तु इतना निश्चित है कि इस गच्छ में ऐसे कुछ जीवनीय तत्त्व निहित हैं, जिनसे यह आज भी एक आदर्श, जीवन्त और आचरणीय धर्म के रूप में विद्यमान है।

इस गच्छ का इतिहास लगभग हजार वर्षों के सुदीर्घ काल में तनाबुना है। इतने लम्बे अन्तराल में उसकी एकरूपता कैसे अखण्डित रह सकती है। किन्तु आत्मतोष यह सोचकर होता है कि इस गच्छ ने सदा मानवता को सम्मान दिया, एकता और प्रेम के लिए अपनी गरिमाओं का बलिदान किया। जीवन-विशुद्धि के लिए स्वयं को समर्पित किया। आत्म कल्याण, स्वार्थ-त्याग और धर्म-विकास की त्रिविध नीति के बलबूते पर ही यह गच्छ स्वयं में ऐतिहासिक मूल्यों को संजोए समुन्नत है।

खरतरगच्छ का काल-क्रमानुसार वर्गीकरण—

इतिहास विश्व का दर्पण है। जिसका जैसा बिम्ब होगा उसमें वैसा ही प्रतिबिम्बित होगा। खरतरगच्छ की छवि को भी हमें इतिहास के दर्पण में निहारना होगा। अध्ययन की सुविधा के लिए खरतरगच्छ के इतिहास को कालक्रमानुसार वर्गीकृत करना अपेक्षित है।

खरतरगच्छ के इतिहास का अनुशीलनात्मक अध्ययन—

१. आदिकाल
२. मध्यकाल
३. वर्तमानकाल

—इन तीन मुख्य शीर्षकों में रखकर किया जा रहा है।

आदिकाल के अन्तर्गत हम खरतरगच्छ के प्रारम्भिक काल को ग्रहण करते हैं। यह काल विक्रम की ग्यारहवीं शदी से तेरहवीं शदी तक का है। इस काल में मुख्य रूप से चैत्यवास एवं शिथिलाचार का उन्मूलन हुआ और श्रमणोचित मार्ग का प्रसार हुआ। यह कार्य विक्रम की तेरहवीं शदी तक निरन्तर चला। खरतरगच्छ का बीजारोपण, सिंचन एवं अंकुरण इसी काल में हुआ। पश्च काल में खरतरगच्छ रूप सुविहित मार्ग/विधिपक्ष का विकास के चरम शिखर पर आरोहण हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ में खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास आकलित है।

खरतरगच्छ का विक्रम की चौदहवीं शदी से अठारहवीं शदी तक का इतिहास हम मध्य काल के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं। मध्यकालीन इतिहास सुविस्तृत होने के कारण इस शीर्षकान्तर्गत इतिहास का विश्लेषण हम दो उपशीर्षकों में करेंगे—(१) पूर्व मध्य काल और (२) परवर्ती मध्य काल। विक्रम की चौदहवीं से सोलहवीं शदी पर्यन्त

का इतिहास पूर्ववर्ती मध्य कालान्तर्गत ग्राह्य है और विक्रम की सतरहवीं से अठारहवीं शदी तक का इतिहास परवर्ती मध्य कालान्तर्गत विवेच्य है। यह मध्ययुगीन काल खरतरगच्छ का उत्कर्ष युग है।

विक्रम की उन्नीसवीं से इक्कीसवीं शदी का इतिहास हम वर्तमान कालान्तर्गत स्वीकार करके विवेचन करेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हम खरतरगच्छ के उस इतिहास का अनुशीलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे, जो आदिकाल से सम्बद्ध है।

खरतरगच्छ का आदिकाल

खरतरगच्छ का आदिकाल विक्रम की ग्यारहवीं शदी से तेरहवीं शदी का है। यह समय क्रान्ति का युग था। उस समय खरतरगच्छ ने तमस् के साये में ढकी जा रही दुनिया को अभिनव ज्योति प्रदान की। जैन धर्म विश्व के लिए एक आदर्श रहा है। काल के दुष्प्रभाववश या समाज की आन्तरिक कमजोरियों के कारण वे आदर्श जर्जरित और विशृंखलित हो गए। उस परिस्थिति में जीनेवाले मुनिजन चैत्यवासी कहलाते थे। खरतरगच्छ चैत्यवास का प्रबल विरोधक बनकर उपस्थित हुआ और उसने समाज के सामने ज्योतिर्मय जीवन-मूल्यों की मशाल जलाकर संसार को सम्यग्मार्ग-दर्शन दिया।

चैत्यवासी-परम्परा

चैत्यवासी परम्परा का अस्तित्व कई सदियों तक रहा। इसका प्रभाव आकस्मिक न होकर अनुक्रमिक है। चैत्यवास मुख्यतः सुविधावाद या परम्परागत भाषा में शिथिलाचार का प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य देवर्धि गणि के बाद विक्रम की ग्यारहवीं शदी तक यह परम्परा क्रमशः व्यापक रूप से फैली।

चैत्यवास की प्रारम्भिक अवस्था को प्रस्तुत करने के लिए सामा-

न्यतया हमारे पास अकाट्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि जो उपलब्ध होते हैं उन्हें ही हमें आधारभूत मानना होगा। उपाध्याय धर्मसागर के उल्लेखानुसार "वीरात् ८३२ चैत्य स्थिति" है। आचार्य जिनवल्लभसूरि रचित "संघपट्टक" में वीर निर्वाण संवत् ८५० का संकेत प्राप्त होता है। ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से देखें तो चैत्यवास के प्रादुर्भाव का यह समय अधिक समीचीन नहीं लगता। वस्तुतः उक्त समय में तो चैत्यवास पर्याप्त प्रगति कर चुका था।

आचार्य वज्रस्वामी के काल में चैत्यवास के संकेत प्राप्त होते हैं। आचार्य पादलिप्तसूरि के समय में चैत्यवास का उल्लेख स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है, जो कि विक्रम की प्रथम शदी का है। परवर्ती काल में छठी-सातवीं शताब्दी तक चैत्यवास की परिस्थिति को प्रस्तुत करने के लिए हमारे पास प्रमाण प्राप्त हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि के समय चैत्यवास पर्याप्त विस्तृत एवं विकसित था।

चैत्यवासी : शिथिल साध्वाचार के अनुगामी

यह चैत्यवासी सम्प्रदाय मुनि-लिंग से सम्बद्ध था, किन्तु मुनि लिंग की विमलताएँ उसने नष्ट कर दी। इसका प्रभाव इतना अधिक फैल गया कि कठोर चर्या का पालन करने वाले श्रमण इसके सामने टिक न सके। चूँकि राज्य के अधिकारियों पर भी इनका प्रभुत्व था, अतः श्रमण नगरों में प्रवेश नहीं कर पाते। श्रमण चैत्यवासियों के विरुद्ध बोलना तो चाहते थे, किन्तु राजसत्ता के धनी चैत्यवासियों के दबदबे के कारण वे बोल न पाते।

मुनि-जीवन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के महाव्रतों का निरतिचार पालन करता है, किन्तु चैत्यवासी यति लोग साध्वाचार की मर्यादाओं को विशृंखलित कर बैठे। मुनि का धर्म है कि वह देश में पद-यात्राएँ करते हुए सदाचार एवं सद्विचार की गंगा-

यमुना को घर-घर पहुँचाए। सदुपदेश देना मुनि का अनिवार्य कर्त्तव्य है, पर वह वैसा न कर पाता। उसकी सारी प्रेरणाएँ राजनीति एवं विलास-प्रधान हो गई। वह विहार-चर्या की उग्रता का सहिष्णु न होकर स्थानपति और मठाधीश हो गया।

चैत्यवासी चूंकि एक ही स्थान पर रहते, अतः उस क्षेत्र में उनका सम्पर्क अधिकाधिक होता चला जाता। सम्पर्क परिग्रह का ही एक अंग है। चैत्यवासी राज्याधिकारियों से अपना सम्पर्क दृढ़ करने की अधिक चेष्टा करते। राजगुरु का पद पाने के लिए वे यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र का भी बेझिझक उपयोग करते। छत्र, चामर, अंगरक्षक आदि राजकीय सम्मान जनक चीजें भी वे धारण करते।

चैत्यवासी यति श्रमण-जीवन की आदर्श भूमिका से च्युत हो गये थे। अध्यात्म का राजमार्ग उनसे कोसों दूर हो गया। साधुजीवन की निर्मलता उनके लिए गौण हो गई। लोकरंजन उनकी जीवन-चर्या का एक अभिन्न अंग बन गया। कहने के लिए भले ही कह दे कि परिग्रह पाप की जड़ है, पर वास्तविकता तो यह थी कि उनका जीवन-वृक्ष उसी जड़ पर फल-फूल रहा था। स्वयं धन-सम्पति, ऐश्वर्य-सामग्री का भोग करते।

इसकी आचार-संहिता में इतना शैथिल्य आ गया था कि इसका अपना मूलभूत व्यक्तित्व ही समाप्त हो गया था। धर्म के कर्णधारों में विलासिता का धुन समा गया था, परिग्रह का भूत सवार हो रहा था, सर्वत्र आडम्बर का बोलबाला था, शास्त्रीय अर्थों को भी तोड़-मरोड़कर अपने मनोनुकूल व्यवहृत किया जा रहा था, धार्मिक संघ-समुदाय किंकर्तव्यविमूढ़ था। इस समस्याग्रस्त विषम परिस्थितियों में धार्मिक जीवन में तेजस्विता एवं प्रखरता लाने के लिए खरतरगच्छ का प्रादुर्भाव हुआ।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने चैत्यवास की तत्कालीन परिस्थिति का

आँखों देखा हाल लिखा है। उन्होंने उस युग में छाये शिथिलाचार पर करारा प्रहार किया है। यथा—

"ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ-समारम्भ करते हैं, देवद्रव्य का उपयोग करते हैं, जिन मंदिरों और शालाओं का निर्माण करवाते हैं। रंग-बिरंगे सुगंधित धूपवासित वस्त्र पहनते हैं, स्वच्छन्दी वृषभ के समान स्त्रियों के आगे गाते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के उपकरण रखते हैं। जल, फल, फूल इत्यादि सचित्त जीवनयुक्त वस्तुओं का उपभोग करते हैं, दो-दो, तीन-तीन बार भोजन करते हैं और पान, लवंग आदि भी खाते हैं।...ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, आहार के लिए खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते। ...स्वयं परिभ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना और प्रतिक्रमण करवाते हैं। स्नान, तेल-मर्दन, शृंगार और इत्र का उपयोग करते हैं। अपने शिथिलाचारी मृतक गुरुओं की अन्त्येष्टि-भूमि पर स्तूप बनवाते हैं। अकेली स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणों के गीत गाती हैं।

...वेश्यागमन, क्रय-विक्रय और प्रवचन के बहाने विकथा किया करते हैं, शिष्य बनाने के लिए नन्हें-नन्हें बालकों को खरीद कर भोले लोगों को ठगते हैं। जिन प्रतिमाओं तक को भी वे खरीदते और बेचते हैं। उच्चाटन करते हैं तथा वैद्यक, यन्त्र, मंत्र, गंडा, ताबीज इत्यादि में कुशल होते हैं।...ये सुविहित साधुओं के पास श्रावकों को जाने से रोकते हैं, अभिशाप आदि का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं और शिष्यों के लिए एक-दूसरे से लड़ पड़ते हैं।"[1]

चैत्यवास का यह अंकन आठवीं शदी का है। आचार्य हरिभद्र-सूरि के उक्त अभिवचनों से ज्ञात होता है कि उस समय चैत्यवास एवं शिथिलाचार विस्तृत प्रमाण में था। स्वयं हरिभद्रसूरि तो इस शिथिला-

---

[1] सम्बोध प्रकरण।

चार से इतने दुखित हो गये कि वे अपनी आत्म-पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ओह ! मैं अपने मस्तिष्क के शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूं ?[1]

पुरातत्वाचार्य जिनविजय ने लिखा है कि उस समय में श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में उन यतिजनों के समूह का प्राबल्य था, जो अधिकतर चैत्यों अथवा जिन मन्दिरों में निवास करते थे। ये यतिजन जैन मन्दिर, जो, उस समय चैत्य के नाम से विशेष प्रसिद्ध थे, में अहर्निश रहते, भोजनादि करते, धर्मोपदेश देते, पठन-पाठनादि में प्रवृत्त होते और सोते-बैठते। अर्थात चैत्य ही उनका मठ या वास-स्थान था और इसलिए वे चैत्यवासी के नाम से प्रसिद्ध हो रहे थे। इनके साथ उनके आचार विचार भी बहुत से ऐसे शिथिल अथवा भिन्न प्रकार के थे, जो जैन शास्त्रों में वर्णित निर्ग्रन्थ जैन मुनि के आचारों से असंगत दिखाई देते थे। वे एक तरह से मठपति थे।[2]

चैत्यवासियों का राज्याधिकारियों पर भी अत्यधिक प्रभाव था। प्रभावक-चरित्र में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार गुजरात की राजधानी अणहिलपुर पत्तन के स्थापक चापोत्कट वनराज (विक्रम सं० ८०२) आचार्य शीलगुणसूरि के शिष्य थे। आचार्य चैत्यवासी थे। आचार्य के निर्देशानुसार वनराज ने यह आज्ञा घोषित कर रखी थी कि उसके राज्य में चैत्यवासी मुनियों के अतिरिक्त अन्य सुविहित मुनि ठहर नहीं सकते—

चैत्यगच्छ यतिव्रात, सम्मतो वसतान् मुनिः ।
नगरे मुनिभिर्नात्र वस्तव्यं तदसम्मतेः ॥[3]

ये चैत्यवासी यतिजन असामाजिक, अनैतिक एवं अधार्मिक तत्त्वों

---

१ सम्बोध प्रकरण ७६ ।

२ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम-शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ १ ।

३ प्रवावक-चरित्रः १८६ पृष्ठ १६३

को बिना किसी संकोच के अपना लेते। ये लोग समाज और संस्कृति दोनों के लिए घातक हो गये थे। महोपाध्याय विनयसागर का अभिमत है कि चैत्यवासियों का आचार उत्तरोत्तर शिथिल होता ही गया और कालान्तर में चैत्यालय भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये तथा वे शासन के लिए अभिशाप रूप हो गये।[१]

मुनि जिनविजय का वक्तव्य भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है कि शास्त्रकार शान्त्यचार्य, महाकवि सूराचार्य, मंत्रवादी वीराचार्य आदि जैसे प्रभावशाली, प्रतिष्ठा-सम्पन्न और विद्वद्गुणी चैत्यवासी यतिजन उस जैन समाज की धर्माध्यक्षता का गौरव प्राप्त कर रहे थे। जैन समाज के धर्माध्यक्षत्व का आम जनता में और राजदरबार में भी इन चैत्यवासी यतिजनों का बहुत प्रभाव था। जैन शास्त्रों के अतिरिक्त ज्योतिष, वैद्यक और मंत्र, तंत्रादिक शास्त्रों और उनके व्यावहारिक प्रयोगों के विषय में भी ये जैन यतिगण बहुत विज्ञ और प्रमाणभूत माने जाते थे। धर्माचार्य के खास कार्यों और व्यवसायों के सिवाय ये व्यावहारिक विषयों में भी बहुत कुछ योगदान किया करते थे। जैन गृहस्थों के बच्चों की व्यवहारिक शिक्षा का काम प्रायः इन्हीं यतिजनों के अधीन था और उनकी पाठ्यशालाओं में जैनेतर गणमान्य सेठ-साहूकारों एवं उच्च कोटि के राज-दरबारी पुरुषों के बच्चे भी बड़ी उत्सुकतापूर्वक विद्यालाभ प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार राजवर्ग और जैन समाज में इन चैत्यवासी यतिजनों की बहुत प्रतिष्ठा जमी हुई थी और सब बातों में इनकी धाक बैठी हुई थी। पर इनका यह सब व्यवहार जैन शास्त्र के यतिमार्ग के सर्वथा विपरीत और हीनाचार का पोषक था।[२]

चैत्यवासी आचार्य आचार के दृष्टिकोण से भले ही सुविधावादी

---

१ वल्लभ-भारती, पृष्ठ, १७

२ कथा कोष, प्रस्तावना, पृष्ठ—३

हो, किन्तु शिक्षा के दृष्टिकोण से वे काफी बढ़े-चढ़े थे। चैत्यवासियों में अनेक साहित्यकार एवं राजगुरु हुए। तन्त्र की साधना में भी वे पहुँचे हुए थे। चैत्यवासी आचार्यों में आचार्य शीलगुणसूरि, देवचन्द्रसूरि, द्रोणाचार्य, गोविन्दाचार्य, सूराचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस युग में चैत्यवासी विस्तृत रूप में था एवं उसका प्रभाव भी था, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि उस शिथिलाचारी-युग में आदर्श श्रमण-धर्म का पालन करने वाले श्रमण मुनियों का सर्वथा अभाव था। इन्हीं इने-गिने श्रमणों में कुछ श्रमण ऐसे हुए जिन्होंने चैत्यवासियों के विरुद्ध आन्दोलन चलाया और धर्म-मार्ग में आई हुई विकृतियों को दूर करने की निर्मल भावना से क्रांति मचाई। उसी क्रान्ति की परिणति थी, खरतरगच्छ की उत्पत्ति।

खरतरगच्छ का उद्भव

चैत्यवासी परम्परा ने जैन-संस्कृति की उज्ज्वलता को निर्विवादतः क्षति पहुँचायी। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी उनके उत्कर्ष की वेला थी। जो सीढ़ियाँ व्यक्ति को ऊपर चढ़ाती है, वे ही नीचे भी उतारती हैं। क्रांति के स्वर उभरे। साधु-समाज एवं श्रावक-समाज ने धर्मसंघ में शिथिलाचार के भ्रूण को समाप्त करने की प्रतिज्ञा ली।

इस ओर सर्वप्रथम कदम उठाने का साहस किया ग्यारहवीं शदी के उत्तरार्द्ध में आचार्य जिनेश्वरसूरि एवं आचार्य बुद्धिसागरसूरि बन्धु-युगल ने। दोनों आचार्य चैत्यवासियों को प्रबुद्ध करने की भावना से अणहिलपुर पत्तन पहुँचे। चैत्यवासियों का सर्वाधिकार एवं प्रभाव होने के कारण उन्हें उस नगर में रहने के लिए किसी ने भी स्थान नहीं दिया। इसका कारण वहाँ के राजमान्य चैत्यवासियों ने सुविहित

मुनियों का पत्तन में ठहरना वर्जित कर रखा था, परन्तु वहाँ का राजपुरोहित दोनों आचार्यों की विद्वत्ता तथा प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने अपनी पाठशाला/अश्वशाला ठहरने के लिए दे दी। जब चैत्यवासियों को वस्तु-स्थिति का पता चला, तो उन्होंने दोनों आचार्यों को निकालने के लिए उचित-अनुचित उपाय किये, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्त में राजपुरोहित की प्रेरणा से महाराजा दुर्लभराज की सभा में आचार्य जिनेश्वरसूरि और चैत्यवासियों के बीच परस्पर शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ-विजेता जिनेश्वरसूरि को दुर्लभराज ने खरतर विरुद से सम्मानित किया, जिसका अर्थ होता है—खरा, स्पष्टवादी, शुद्ध, हृदयशील और अति तेजस्वी। वस्तुतः खरतरगच्छ के नामकरण का सम्बन्ध उसी शास्त्रार्थ-विजय से है।

शास्त्रार्थ-विजय : क्रान्ति का पहला सफल चरण

खरतरगच्छ के आदि प्रवर्तक आचार्य जिनेश्वरसूरि ने जो क्रान्तिकारी कदम बढ़ाए, उसमें उन्हें शत प्रतिशत सफलता मिली। चैत्यवासियों के विरोध में उनके क्रान्तिकारी स्वर अभेद्य रहे। उन्हें सर्वप्रथम सफलता मिली चैत्यवासियों के साथ हुए शास्त्रार्थ में। उनकी स्फूरणशील मनीषा ने चैत्यवासियों को पराभूत कर दिया। दो पक्ष में एक को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए उस समय शास्त्रार्थ प्रमुख था। आचार्य जिनेश्वरसूरि अपने प्रथम चरण में सफल एवं विजयी सिद्ध हुए। वह शास्त्रार्थ इतिहास के पन्नों में अपना मूल्य रखता है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि का शास्त्रार्थ किस चैत्यवासी आचार्य के साथ हुआ, यह भी उल्लेखनीय है। वृद्धाचार्य प्रबन्धावली में लिखा है कि आचार्य जिनेश्वरसूरि का चुलसीगच्छ (चौरासी गच्छ) के भट्टारक द्रव्यलिंगी चैत्यवासी के साथ दुर्लभराज की सभा में वाद हुआ। उसमें चैत्यवासी आचार्य पराजित हुए और जिनेश्वरसूरि विजित।[1]

---

[1] खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ६०

उपाध्याय जिनपाल के उल्लेखानुसार शास्त्रार्थ के समय चैत्य-वासी परम्परा के चौरासी आचार्य उपस्थित थे, जिनकी अध्यक्षता सूराचार्य ने की।[1]

सूराचार्य व्याकरण, न्याय के विशेषज्ञ एवं शास्त्रार्थ-निपुण थे। उन्होंने राजा भोज की सभा में वाद-विजय कर ख्याति अर्जित की थी। गुर्जर-नरेश भीम भी उनसे प्रभावित हुआ। ये अणहिल्लपुर में ही जन्मे, दीक्षित हुए। एक प्रभावशाली आचार्य होते हुए भी शास्त्रीय मर्यादाओं को विशृंखलित कर बैठे और शास्त्रीय आचारमूलक चर्चा में उन्हें पराजित होना पड़ा। प्रभावक चरितकार के अनुसार सूराचार्य ने अपने जीवन की सांध्य-वेला में अनशन संलेखना वृत्त स्वीकार किया था। प्रभावक चरित्र में सूराचार्य का परिचय 'सूराचार्य-प्रबन्ध' नाम से २५६ पद्यों में प्रस्तुत है।

जिनेश्वर एवं सूर के मध्य जो शास्त्रार्थ हुआ, उसका उपाध्याय जिनपाल ने इस प्रकार वर्णन किया है—

आचार्य वर्द्धमानसूरि एवं जिनेश्वरसूरि (अन्य प्रमाणों के अनुसार आचार्य जिनेश्वरसूरि और आचार्य बुद्धिसागरसूरि) राजसभा में शास्त्रार्थ करने के लिए पहुँचे। यहाँ उन्होंने राजा द्वारा निवेदित स्थान पर प्रमार्जन करके आसन ग्रहण किया। राजा चैत्यवासियों की तरह उन्हें भी सम्मानार्थ ताम्बूल (पान) भेंट करने लगे। यह देखकर जिनेश्वरसूरि ने कहा राजन्! साधु पुरुषों को ताम्बूल का सेवन अनुचित है। क्योंकि शास्त्रों में कहा है—

ब्रह्मचारियतीनां च विधवानां च योषिताम्।
ताम्बूल भक्षणं विप्रा! गोमांसन्न विशिष्यते ॥

अर्थात् ब्रह्मचारी, यति एवं विधवाओं को ताम्बूल भक्षण करना गोमांस के समान है।

---

[1] युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृष्ठ ३

यह सुनकर वहाँ उपस्थित विवेकवान् जैन संघ की आचार्य के प्रति बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई। शास्त्रार्थ-विचार के समय वर्द्धमानसूरि ने कहा कि हमारी ओर से पण्डित जिनेश्वरसूरि उत्तर प्रत्युत्तर करेंगे और ये जो कहेंगे, वह हमें मान्य होगा। यह सुनकर सभी ने कहा कि यह उचित है। इसके बाद पूर्व पक्ष ग्रहण करते हुए सूराचार्य ने कहा—जो मुनि वसति में निवास करते हैं, वे प्रायः षड्दर्शन से बाहर हैं। षड्दर्शनों में श्रवणक जटी आदि का समावेश है, किन्तु ये लोग इनमें से कोई भी नहीं है। अपने तथ्य की प्रामाणिक पुष्टि के लिए उन्होंने नूतन "वादस्थल" नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। जिनेश्वरसूरि ने "भावी का अतीत की तरह उपचार होता है"—इस न्याय का अवलम्बन लेकर कहा, नृपेन्द्र दुर्लभराज! आपके राज्य में पूर्व पुरुषों द्वारा निर्धारित नीति चलती है या वर्तमान पुरुषों द्वारा निर्मापित नवीन नीति?

राजा ने कहा—"पूर्व पुरुषों की बनाई हुई नीति ही हमारे देश में प्रचलित है, नवीन राजनीति नहीं।

तदनंतर जिनेश्वरसूरि ने कहा—महाराज! हमारे जैन मत में भी इसी तरह ही पूर्वकालीन गणधर और चतुर्दश पूर्वधर आदि द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही प्रमाण स्वरूप माना जाता है, दूसरा नहीं। राजन्! हम लोग बहुत दूर देश से आये हैं, अतः हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा रचित सिद्धान्त-ग्रन्थ हम अपने साथ नहीं लाये हैं। इसलिए इन चैत्यवासी आचार्यों के मठों से हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त ग्रन्थों को मंगवा दीजिये, ताकि उनके आधार पर मार्ग-अमार्ग/सत्य-असत्य का निर्णय किया जा सके। तब राजा ने उन चैत्यवासी यतियों को सम्बोधित करके कहा—ये वसतिवासी मुनि ठीक कहते हैं। पुस्तकें लाने के लिए मैं अपने राजकीय कर्मचारी पुरुषों को भेजता हूँ। आप अपने यहाँ सन्देश भेज दें, जिससे उन्हें वे पुस्पकें सौंप दी जायें। चैत्यवासी यति यह जान गए थे कि हमारा

पक्ष दुर्बल रहेगा और इनका पक्ष प्रबल, अतः उन्होंने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया और चुपचाप रहे। तब राजा ने ही राजकीय पुरुषों को सिद्धान्त ग्रन्थों का वेष्टन/गठरी लाने के भेजा। वे गए और शीघ्र ही ग्रन्थों की गठरी ले आए। गठरी के खोलने पर सर्वप्रथम वह पृष्ठ दिखाई दिया, जिसमें निम्नलिखित गाथा प्रथम थी—

अनट्ठं पगडलेणं, वइज्जसयणसणं।
उच्चार-भूमि-संपन्नं, इत्थीपसुविवज्जियं ॥

अर्थात् साधु को ऐसे स्थान में ठहरना चाहिए जो साधु के निमित्त नहीं, किन्तु अन्य किसी के लिए बनाया गया हो, जिसमें खान-पान और सोने की सुविधा हो, जिसमें मल-मूत्र त्याग के लिए उपयुक्त स्थान निश्चित हो और जो स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से वर्जित हो।

इस प्रकार 'वसति (वस्ती) में साधुओं को रहना चाहिए, न कि देव मंदिरों में'—यह सुनकर राजा ने कहा—यह तो ठीक ही कहा है। सारे अधिकारियों ने जान लिया कि हमारे चैत्यवासी गुरु निरुत्तर हो गये हैं। तब वहाँ पर उपस्थित सारे अधिकारीगण एवं मंत्री श्रीकरण राजा से प्रार्थना करने लगे—ये चैत्यवासी साधु तो हमारे गुरु हैं। इन लोगों ने समझा था कि राजा हमें बहुत मानते है। इसलिए हमारे संकोच से साधुओं के प्रति भी वे पक्षपात करेंगे ही। परन्तु राजा निष्पक्ष और न्यायप्रिय था। यह देखकर जिनेश्वरसूरि ने कहा—महाराज! यहाँ कोई मंत्री श्रीकरण का गुरु है, तो कोई पश्वों का गुरु है। अधिक क्या कहें, इनमें सभी का परस्पर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बना हुआ है। हम आपसे पूछते हैं कि इस लाठी का सम्बन्ध किसके साथ है? राजा ने कहा—इसका सम्बन्ध मेरे साथ है। जिनेश्वरसूरि ने कहा—महाराज! इस तरह सब कोई किसी न किसी का सम्बन्धी बना हुआ है, किन्तु हमारा कोई सम्बन्धी नहीं है। यह सुनकर राजा बोला—आप मेरे आत्म-सम्बन्धी गुरु हैं।

अचानक राजा ने अपने अधिकारियों से कहा—अरे! अन्य सभी आचार्यों के लिए रत्नपट्ट से निर्मित सात गद्दिका/गद्दियाँ बैठने के लिए हैं और ये चरित्रशील गुरु नीचे सामान्य आसन पर बैठे हैं, क्या हमारे यहाँ तदनुकूल गादियाँ नहीं? इनके लिए भी विशिष्ठ गद्दिका लाओ। यह सुनकर आचार्य जिनेश्वरसूरि ने कहा—राजन्! साधुओं को गद्दिका पर बैठना उचित नहीं है। शास्त्रों में कहा है—

भवति नियत मेवा संयमः स्याद्-विभूषा,
नृपति ककुद। एतल्लोक हासश्व भिज्ञोः।
स्फुटतर इह संगः सातशीलत्वमुच्चै
शितिन खलु मुमुक्षोः संगतं गद्दिकादि॥

अर्थात् मुमुक्षु को गादी आदि का उपयोग करना योग्य नहीं है। यह तो शृंगार और शरीर-सुख का एक साधन है जिससे असंयमित मन अवश्य चंचल हो जाता है। इससे लोक में साधु की हँसी होती है। यह स्पष्टतया आसक्तिकारक है और इससे अत्यंत शारीरिक सुखशीलता बढ़ती है। इसलिए हे राजन्! इसकी हमें आवश्यकता नहीं है।

ये पंक्तियाँ सुन राजा उनके प्रति श्रद्धाभिभूत हो गया और उसने पूछा—"आप कहाँ निवास करते हैं। जिनेश्वरसूरि ने कहा—महाराज! जिस नगर में अनेक विपक्षी हो, वहाँ स्थान की प्राप्ति कैसी? उनका यह उत्तर सुनकर राजा ने कहा—नगर के "कर डिहटी"[१] नामक मोहल्ले में एक वंशहीन पुरुष का विशाल भवन खाली पड़ा है, उसमें आप निवास करें। राजा की आज्ञा से उसी क्षण वह स्थान प्राप्त हो गया। राजा ने पूछा—आपके भोजन की क्या व्यवस्था है? सूरि ने उत्तर दिया महाराज! भोजन की भी वैसी

---

१ प्रभावक चरित के अनुसार व्रीहिहट्टी।

कठिनता है। राजा ने पूछा—आप कितने साधु हैं? जिनेश्वरसूरि ने कहा—अठारह साधु हैं। तब राजा ने कहा कि इसकी व्यवस्था हो जाएगी। आप राजपिण्ड का सेवन करें। तब जिनेश्वरसूरि ने कहा—महाराज! साधुओं को राजपिण्ड कल्प्य नहीं है। राजपिण्ड का सेवन शास्त्र में निषिद्ध है। राजा बोला—अस्तु! ऐसा न सही। भिक्षा के समय राजकर्मचारी के साथ रहने से आपलोगों की भिक्षा सुलभ हो जाएगी। ...इस प्रकार वाद-विवाद में विपक्षियों को परास्त करके अन्त में राजा और राजकीय अधिकारी पुरुषों के साथ वर्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि आदि ने सर्वप्रथम गुजरात में वसति में प्रवेश किया और सर्वप्रथम गुजरात में वसति-मार्ग[१] की स्थापना हुई।"

उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि आचार्य जिनेश्वर ने सूराचार्य एवं राजा की सभी युक्तियों का बड़ी कुशलतापूर्वक खण्डन करते हुए यथार्थता का निरूपण किया। जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों का जीवन कलुषित एवं अत्यन्त अपवादपूर्ण बताया। जिनेश्वरसूरि के वाक्चातुर्य के कारण तथा प्रखर पाण्डित्य से न केवल उनके विपक्षी ही पराजित हुए अपितु तत्रस्थ आसीन विद्वान एवं गणमान्य लोग भी प्रभावित हुए थे। जिनेश्वरसूरि की स्पष्टवादिता, आचार-निष्ठा तथा प्रखर तेजस्विता को देखकर ही उन्हें "खरतर" विरुद प्रदान किया गया अथवा "खरतर" सम्बोधन से सम्बोधित किया गया।

शास्त्रार्थ-विजयी : वर्धमान या जिनेश्वर?

खरतरगच्छ के अभ्युदय में शास्त्रार्थ-विजय की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। कतिपय पट्टावलियों के अनुसार शास्त्रार्थ-चर्चा के दौरान विपक्षी चैत्यवासियों के सामने आचार्य वर्धमानसूरि और

१ युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली, पृष्ठ ३

आचार्य जिनेश्वरसूरि थे, तो कतिपय पट्टावलियों के अनुसार आचार्य जिनेश्वरसूरि और आचार्य बुद्धिसागरसूरि थे।

प्राचीन प्रमाणों में युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली, वृद्धाचार्य-प्रबन्धावली और प्रभावक-चरित के सन्दर्भों को प्रमुखता से ग्रहण करना चाहिये। युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली के अनुसार—

गुरुभिः (आचार्य वर्धमानसूरि) भणितम्—एष पण्डित जिनेश्वर उत्तर-प्रत्युत्तरं यद्भणिष्यति तदस्माकं सम्मतमेव।

उक्त सन्दर्भ के आधार पर जिनेश्वरसूरि ने शास्त्रार्थ में आचार्य वर्धमानसूरि का प्रतिनिधित्व किया। जबकि प्रभावक चरित में लिखा है—

जिनेश्वरसूरिस्ततः सूरिरपरो बुद्धिसागरः।
नामभ्यां विश्रुतौ पूज्यैर्विहारे नुमतौ तदा।
ददे शिक्षेति तैः श्रीमत्पत्तने चैत्यसूरिभिः।
विघ्नं सुविहितनां स्यात् तत्रावस्थानवाराणात्।

इस प्रमाण के अनुसार आचार्य वर्धमानसूरि की अनुमति लेकर जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि चैत्यवासी आचार्यों को मजा चखाने के लिए अणहिलपुर गये। 'वृद्धाचार्य-प्रबन्धावली' के उल्लेखानुसार तो यह शास्त्रार्थ-विजय का प्रसंग आचार्य वर्धमानसूरि के स्वर्गारोहण के बाद हुआ—

पच्छा वद्धमाणसूरी अणसणं काऊण देवलोगं पत्तो। तओ जिणेसरसूरि गच्छनायगो विहरमाणो वसुहं अणहिल्लपुर पट्टणे गओ। तत्थ चुलसीगच्छवासिणो भट्टारगा दव्वलिंगिणो मढवइणो चेइय-वासिणो पासइ। पासित्ता जिण सासणुन्नइकए सिरि दुल्लह राज सभाए वायं कायं।[१]

---

[१] वृद्धाचार्य-प्रबन्धावली, जिनेश्वरसूरि प्रबन्धः

उपर्युक्त सन्दर्भों के अनुसार एक बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि शास्त्रार्थ-विजेता आचार्य जिनेश्वरसूरि ही थे। शास्त्रार्थ के समय वे आचार्य वर्धमानसूरि के साथ थे, या बुद्धिसागरसूरि उनके साथ थे, यह कुछ विवादास्पद हो सकता है। मेरी विनम्र बुद्धि के अनुसार तो आचार्य जिनेश्वरसूरि के साथ बुद्धिसागरसूरि ही थे। पहली बात तो आचार्य वर्धमानसूरि स्वयं इतने प्रकाण्ड विद्वान् थे कि उनके रहते आचार्य जिनेश्वरसूरि को शास्त्रार्थ का प्रतिनिधित्व सौंपने की आवश्यकता ही नहीं थी। दूसरी बात यह है कि जिनेश्वर एवं बुद्धिसागर दोनों भाई-भाई थे। अतः उनका साथ-साथ रहना स्वाभाविक है। ज्ञान-प्रखरता की दृष्टि से बुद्धिसागर जिनेश्वर से भी अधिक बढ़े-चढ़े थे। यदि वर्धमानसूरि अपने शिष्यों में से ही किसी को शास्त्रार्थ का प्रतिनिधित्व देते तो शायद बुद्धिसागरसूरि का क्रम पहला आ जाता। ऐसा लगता है कि जिनेश्वर और बुद्धिसागर युगल-बन्धुओं में जिनेश्वर बड़े भाई थे, अतः जिनेश्वरसूरि ने ही शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थ के समय वर्धमानसूरि की सन्निधि न हो कर जिनेश्वर एवं बुद्धिसागर युगलबन्धु की ही उपस्थिति थी।

खरतर-नामकरण

'खरतर' शब्द प्रखरता का परिचायक है। खरतरगच्छ 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति को चरितार्थ करता है। जिस प्रकार ईसाई समाज में "प्यूरीटन" नाम की उत्पत्ति उग्र सुधारवाद के वातावरण को लेकर हुई, उसी प्रकार "खरतरगच्छ" के नामकरण का आधार है। 'खरतर' शब्द-सम्बोधन महाराज दुर्लभराज ने आचार्य जिनेश्वरसूरि के लिए किया था। जिनेश्वर वज्रशाखा के अनुगामी थे। उन्होंने चैत्यवासियों को जिस भूमिका पर परास्त किया, इससे उनकी सारे समाज में यशोगाथा फैली। दुर्लभराज ने सभी सभासदों के बीच जिनेश्वर की प्रतिभा का गुणगान किया और उन्हें खरतर/प्रखर

बताया। अतः जिनेश्वरसूरि का अनुयायी-वर्ग या प्रभावित वर्ग उनके लिए 'खरतर' सम्बोधन व्यवहृत करने लगा। जिनेश्वरसूरि का प्रभाव विस्तृत रूप से फैला। उनका अनुयायी-वर्ग विशाल हो गया। अतः उनकी परम्परा के लिए 'खरतरगच्छ' शब्द का उपयोग होने लगा। खरतर-विरुद प्राप्ति का उल्लेख हमें अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है।

आचार्य जिनदत्तसूरि ने "तुम्हइहु पहु चाहिल दसिउ हियंइ बहुत्तु खरउ विमसउ" इस खरतरगच्छ-सूचक पंक्ति का उल्लेख किया है। इसी तथ्य के सम्बन्ध में पण्डित लालचन्द भगवान दास गांधी ने लिखा है—उपर्युक्तमेव गाथायां बहुतु खरउ पदं प्रयुज्य ग्रन्थकर्त्ताः निजाभिमतस्य विधि पथस्य "खरतर" इति गच्छ संज्ञा ध्वनितां वितर्क्यते। विधि पथस्यैव तस्य कालक्रमेण प्रचालिता "खरतरगच्छ" इत्यभिधायवधि विद्यते।[1]

वृद्धाचार्य प्रबन्धावलीकार ने स्पष्टतः यह लिखा है कि दुर्लभराज ने परितुष्ट होकर जिनेश्वरसूरि को 'खरतर' विरुद दिया—रन्ना तुट्ठेण 'खरतर' इह विरुदं दिन्नं। तओ परं खरतरगच्छो जाओ।[2] यह संदर्भ खरतरगच्छ के लिए एक ऐतिहासिक मूल्य लिए है। खरतर-विरुद की प्राप्ति के बाद खरतरगच्छ उत्पन्न हुआ।

खरतरगच्छ परम्परा में निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है—

तत्पट्ट पंकेरूह राजहंसा जिनेश्वरसूरि शिशेवतं साः।
जयन्तु ते ये जिन शैव शासन-श्रुत-प्रवीणा भववासमक्षियत्॥

---

[1] अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका, पृष्ठ ११६

[2] वृद्धाचार्य प्रबन्धावली, जिनेश्वरसूरि प्रबन्ध

श्रीपत्तने दुर्लभराज राज्ये विजित्यवादे मठवासिसूरिणा वर्षाब्धि पक्षाप्रशशि प्रमाणं लेभेऽपि येः खरतरौ विरुद युग्मम् ।[1]

सुमति गणि ने सं० १२६५ में गणधर सार्द्ध शतक वृहद वृत्ति में खरतर विरुद प्राप्ति विषयक वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

किं बहुनेत्यं वादं कृत्वा विपक्षान्निर्ण्णित्य राजामात्य श्रेष्ठि सार्थवाह प्रभृति पुर-प्रधानः पुरुषैः सह भट्टचट्टेषु वसति मार्ग प्रकाशन यशः पताकायमान काव्य बन्धान् दुर्जन जन कर्णशूलान् साटोपं पठत्सु सत्सु प्रविष्टा वसतो प्राप्त खरतर विरुद भगवन्तः श्री जिनेश्वरसूरयः एवं गुर्ज्जरय देशे श्री जिनेश्वरसूरिणा प्रथम चक्रे ।[2]

आचार्य जिनचन्द्रसूरि का उल्लेख भी यहाँ वर्णनीय है :—

यैः पूज्यैरणहिल्लपत्तनपुरे द्योसिदि शून्य क्षमा वर्षे दुर्लभ राजपर्वादि पराजित्य प्रमाणोक्तिभिः। सरीन चैत्यवासिनः खरतर ख्याति जनेश्वार्पित श्रीमत् सूरिजिनेश्वराः समभवत्ततपट्ट शोभकराः ।।[3]

अभिधान राजेन्द्र-कोश में संकलित सन्दर्भ के अनुसार—

वैक्रम संवत् १०८० श्रीपत्तने वादिनो जित्वा खरतरेत्याख्यं विरुदं प्राप्तेन जिनेश्वरसूरिणा प्रवर्त्तिते गच्छेः—आत्मप्रबोध (१४१) आसीत तत्पादपंकजैकमधुकृत् श्रीवर्धमानाभिधः सूरिस्तस्य जिनेश्वराख्यगणभृज्ञातो विनेयोत्तमः। यः प्रापत् शिवसिद्धिपक्ति (संवत १०८०) शरदि श्री पत्तने वादिनो जित्वा सद्विरुद्धं कृति खरतरेत्याख्यां नृपादेर्मुखात (अष्ट० ३२, अष्ट०)[4]

उपाध्याय क्षमाकल्याण ने भी खरतर विरुद का उल्लेख किया है—

---

[1] खरतरगच्छ सूरि परम्परा, प्रशस्ति, ३७-३८ लेखन काल १५८२

[2] गणधर सार्द्ध शतकान्तर्गत प्रकरण, पृष्ठ ११

[3] खरतरगच्छ पट्टावली, लेखन काल सं० १८३०

[4] अभिधान राजेन्द्र कोश, तृतीय भाग, पृष्ठ ७२३

एवं सुविहित—पक्षधारकाः जिनेश्वरसूरयो विक्रमतः १०८० वर्षे "खरतर" विरुद्धारका जाता।[1]

एक अन्य पट्टावली के अनुसार—संवत् १०८० दुर्लभराज सभाये ८४ मठपतीन् जीत्वा प्राप्त खरतर विरुदः।[2]

उपरोक्त प्रमाणभूत उल्लेखों से यह निश्चित है कि दुर्लभराज की अध्यक्षता में आचार्य जिनेश्वरसूरि और सूराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ था और जिनेश्वर को विजयश्री के रूप में खरतर विरुद की सम्प्राप्ति हुई थी।

कतिपय विद्वानों के अनुसार यहाँ न तो शास्त्रार्थ हुआ था और न ही खरतर विरुद दिया गया। साम्प्रतिक विद्वानों ने ही नहीं अपितु शदियों पूर्व भी यह समस्या उपस्थित की जा चुकी थी। आचार्य जिनचन्द्रसूरि के समय में उपाध्याय धर्मसागर आदि ने इस सम्बन्ध में आक्षेप लगाये हैं।

अतः इस सन्दर्भ में एक विशाल संगीति का आयोजन किया गया, जिसमें सर्वसम्मति से खरतरगच्छ की उत्पत्ति जिनेश्वरसूरि से मान्य की गई। महोपाध्याय समयसुन्दर ने इस घटना का समाचारी शतक में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इसी सम्बन्ध में अगरचन्द नाहटा एवं भँवरलाल नाहटा के युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि ग्रन्थ में 'पाटण में चर्चाजय' खंड अवलोक्य है। आचार्य जिनदत्तसूरि,[3] सुमति गणि,[4] उपाध्याय जिनपाल[5] आदि के प्राचीनतम उल्लेख अपने-आप में अकाट्य प्रमाण हैं।

---

[1] खरतरगच्छ पट्टावली, लेखन काल सं० १०३०

[2] उद्धृत—युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि, भूमिका, पृष्ठ ४०

[3] द्रष्टव्य—(क) गणधर सार्ध शतक, ६५, ६६
(ख) गुरुपारतन्त्र्य स्तोत्र, १०

[4] द्रष्टव्य—जिनेश्वर चरित्र, कथाकोष, परिशिष्ट, पृष्ठ १२

[5] द्रष्टव्य—युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली, पृष्ठ ३

सम्प्रति कतिपय विद्वानों को छोड़कर अन्य सभी विद्वानों ने इस बात को एक स्वर से स्वीकार किया है कि जिनेश्वरसूरि ही खरतरगच्छ के प्रवर्तक हैं। इन विद्वानों में आचार्य हरिसागरसूरि, आचार्य मणिसागरसूरि, आचार्य आनन्दसागरसूरि, आचार्य कवीन्द्रसागरसूरि, उपाध्याय लब्धि मुनि, मोहनलाल दलीचन्द देसाई, मुनि जिनविजय, मुनि कान्तिसागर, आचार्य उदयसागरसूरि, अगरचन्द नाहटा, प्रवर्तिनी साध्वी श्री सज्जनश्री, पं० लालचन्द भगवान दास गाँधी, डा० जेटली, गणि मणिप्रभसागर, भंवरलाल नाहटा, महोपाध्याय विनयसागर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विस्तार-भय से हम यहाँ केवल महोपाध्याय विनयसागर का अभिमत ही उल्लेखित करते हैं—

खरतरगच्छीय परम्परा के अनुसार खरतर-विरुद जिनेश्वराचार्य को तत्कालीन राजा दुर्लभराज द्वारा दिया गया था। इस बात को लेकर बहुत निराधार विवाद चला है, परन्तु मेरी समझ में इसमें विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। राजा ने यह विरुद दिया हो अथवा न दिया हो, आचार्य जिनेश्वर की विचारधारा की वह मूलभूत विशेषता जिसके कारण इस विरुद की कल्पना की जा सकती है, जनता के हृदय पर अवश्य ही अपना प्रभाव जमा चुकी होगी और उसीके फलस्वरूप जनता ने उनका जो नामकरण किया वह समाज के मस्तिष्क पर अमिट अक्षरों में लिख गया। इसलिए समाज के मानस-पटल पर आचार्य जिनेश्वर के सुधारवाद की खरतरता ने जो प्रभाव डाला, उसकी स्थायी अभिव्यक्ति होना निश्चित था।[१]

खरतरगच्छ का उद्भव-काल

खरतरगच्छ का जन्म ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। श्वेताम्बर-गच्छों में यह सर्वाधिक प्राचीन है। श्री अगरचन्द नाहटा जैसे मूर्धन्य

---

[१] वल्लभ-भारती, पृष्ठ २७

इतिहासविदों के अनुसार तपागच्छ, अंचलगच्छ आदि प्राचीन गच्छों का प्रादुर्भाव खरतरगच्छ के बाद हुआ।[1]

ऐतिहासिकता की दृष्टि से अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिनेश्वरसूरि एवं सूराचार्य के मध्य यह शास्त्रार्थ किस समय हुआ था। इस सम्बन्ध में हमें दो प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें कतिपय विद्वानों ने इस घटना को संवत् १०२४ में हुई स्वीकार करते हैं और कतिपय विद्वान वि० सं० १०८० में। खरतरगच्छ-सूरिपरम्परा प्रशस्ति में संवत् १०२४ का उल्लेख उपलब्ध होता है—

श्री पत्तने दुर्लभराज-राज्ये विजित्यवादे मठवासि सूरिन्।
वर्षेऽब्धि पक्षाभ्र शशि प्रमाणे लेभेऽपि येः खरतरोविरुद युग्मम्॥[2]

जबकि अन्य विद्वान यह चर्चा संवत् १०८० में हुई मानते हैं —

संवत् १०८० दुर्लभराज सभायां ८४ मठपतीन जीत्वा प्राप्त खरतर विरुदः।[3]

किन्तु ये दोनों ही उल्लेख अर्वाचीन पाट्टवली के हैं। इस सम्बन्ध में अधिक प्राचीन उल्लेख एक भी नहीं मिलता। आचार्य जिनदत्तसूरि, उपाध्याय जिनपाल, सुमति गणि, प्रभाव-चरित्रकार प्रभृति ने अन्य समग्र प्रसंगों का वर्णन किया है, परन्तु चर्चा के संवत का कहीं भी संकेत नहीं दिया। इसका कारण यह है कि सभी प्रबन्धकार परवर्ती हैं, समसामयिकी एक भी नहीं है। उन्होंने गीतार्थ श्रुति के आधार पर ही प्रबन्ध लिखे। अतः संवतोल्लेख में अन्तर होना स्वाभाविक है।

वस्तुतः दुर्लभराज ने पाटन पर संवत् १०६६ से १०७८ तक राज्य किया था, ऐसा उल्लेख मेरुतुंगसूरि की विचार श्रेणी की स्थविरावली

---

[1] द्रष्टव्य—खरतरगच्छ का इतिहास, पृष्ठ ६

[2] खरतरगच्छ-सूरिपरम्पराप्रशस्ति, ३८

[3] खरतरगच्छ पट्टावली, उद्धृत युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि, भूमिका, पृष्ठ ४०

में और राजावली कोष्टक में किया है, जिसे पं० ओझा प्रभृति इतिहासज्ञों ने स्वीकार किया है। अतः यह चर्चा इसी के मध्यवर्ती काल में ही हुई होगी। प्रसिद्ध इतिहासविद अगरचन्द नाहटा के अनुसार यह चर्चा संवत १०६६ के लगभग हुई थी।[१] यद्यपि श्री नाहटा का यह संवतोल्लेख सही हो सकता है किन्तु उन्होंने यह उल्लेख किस आधार पर किया है, कोई संकेत नहीं दिया।

महोपाध्याय विनयसागर के उल्लेखानुसार खरतरगच्छ का उद्भव-काल १०७४ है। सोहन राज भंसाली भी इसी मत के समर्थक हैं। यह संवत-भेद होना स्वाभाविक है। खरतर विरुद का समय सं० १०८० प्रचलित होने का यही कारण होना चाहिये कि जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि के ग्रन्थ इसी संवत के मिलते हैं। यह कथन वैसा ही है, जैसा कि आचार्य भद्रबाहु वीरात् १७० में हुए कहना। 'वृद्धाचार्य प्रबन्धावली' में 'जिनेश्वरसूरि प्रबन्ध' लिखते हुए खरतरगच्छ की उत्पत्ति एवं शास्त्रार्थ-विजय का काल बताया गया है। उसके अनुसार—

"दस सय चउवीसे बच्छरे ते आयरिया मच्छरिणो हारिया।"[२]

उक्त 'दस सय चउवीसे' को 'दस सौ चौवीस' की संख्या आंकी गई है। जबकि यह संशोधनीय है। इसका फलन ऐसा होना चाहिये—
$१० \times १०० + ४ \times २० = १०८०$.

अस्तु! संवत को लेकर मतभेद भले ही हो। किन्तु इतना निश्चित है कि खरतर विरुद प्राप्ति या खरतरगच्छ की उत्पत्ति

---

१ खरतरगच्छ का इतिहास, प्रथम खण्ड, खरतरगच्छ का श्रमण-समुदाय, पृष्ठ ६

२ खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ९०

३ ओसवाल-वंश, पृष्ठ ३५

ग्यारहवीं शदी में हो चुकी थी। दुर्लभराज का शासन १०६६ से १०७४ का मध्यवर्ती था। अतः इसी काल के मध्य खरतरगच्छ आविर्भूत हुआ होगा। यद्यपि किसी अज्ञात लेखक लिखित तपागच्छीय एक पट्टावली में खरतरगच्छ का उद्भव काल १२०४ निर्दिष्ट है, उपाध्याय धर्मसागर ने भी इसी संवत् का उल्लेख किया है, किन्तु वह सर्वथा निराधार है। इसकी प्रामाणिकता के लिए अनेक अकाट्य प्रमाण दिये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में सोहनराज भंसाली ने विशेष अनुसंधानपरक तथ्य प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने लिखा है कि कुछ एक अन्य गच्छीय पट्टावलियों में जो बहुत ही अर्वाचीन हैं उनमें खरतरगच्छ की उत्पति सं १२०४ में होना लिखा है पर यह मत सरासर भ्रामक व वास्तविकता से परे है। जैसलमेर दुर्ग में पार्श्वनाथ मंदिर में प्राप्त शिलालेख जो सं० ११४७ का है[1] उसमें स्पष्ट लिखा है "खरतरगच्छ जिनशेखरसूरिभिः।" सं० ११६८ में रचित देवभद्रसूरिकृत पार्श्वनाथ चरित्र की प्रशस्ति में ११७० में लिखित पट्टावली में खरतर विरुद् मिलने का स्पष्ट उल्लेख है।[2] इसी तरह जैतारण राजस्थान के धर्मनाथ स्वामी के मंदिर में सं० ११७१ माघ सुदी पंचमी का सं० ११६६ व सं० ११७४ के अभिलेखों में स्पष्ट लिखा है, "खरतरगच्छे सुविहिता गणाधीश्वर जिनदत्तसूरि।"[3] मीनासर (बीकानेर) के पार्श्वनाथ के मंदिर में पाषाणप्रतिमा पर सं० ११८१ का लेख अंकित है, उसमें भी "खरतरगणाधीश्वर श्री जिनदत्तसूरिभिः" लिखा है। इस तरह यदि सं० १२०४ में ही खरतरगच्छ की उत्पत्ति होती तो सं० ११४७, सं० ११६६, सं० ११७१, सं० ११७४, सं० ११८१ के शिलालेखों में और सं० ११६८ व सं० ११७० के

---

१ जैन लेख संग्रह, नाहर, लेखांक २१२४

२ जैसलमेर ज्ञान भंडार, ताड़पत्रीय ग्रथांक २६५-६६

कापरडा स्वर्ण-जयन्ति अंक, पृष्ठ ११६

ताड़पत्रीय ग्रन्थों में खरतर विरुद मिलने का उल्लेख कैसे संभव होता ? बिना पिता का पुत्र कैसे ? मुनि जिनविजय[1], पूर्णचन्द्र नाहर[2], सुखसम्पत्तिराज भंडारी[3], डा० ऋषभचन्द्र[4], अगरचन्द नाहटा, भंवरलाल नाहटा[5] मुनि मणिप्रभ सागर[6] आदि सभी विद्वान खरतरगच्छ की उत्पत्ति वि० सं० की ११ वीं शताब्दी मानते हैं। उपाध्याय धर्मसागर ने जो खरतरगच्छ की उत्पत्ति का काल सं० १२०४ लिखा वह वास्तव में खरतरगच्छ की उत्पत्ति का नहीं है, अपितु सं० १२०४ में तो खरतरगच्छ से अन्य शाखा निकली जिसका नाम रुद्रपल्लीय खरतरगच्छ है।

कतिपय विद्वानों के अनुसार तो यह शास्त्रार्थ दुर्लभराज की सभा में जिनेश्वराचार्य एवं सूराचार्य के मध्य नहीं हुआ था। इस तथ्य की सिद्धि के लिए प्रायःकर प्रभावक-चरित्र का उल्लेख किया जाता है जिसमें सूराचार्य आदि प्रभावक पुरुषों का विस्तृत वृत्त वर्णित है, किन्तु शास्त्रार्थ का कोई संकेत नहीं दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि प्रभावक चरित्र में उस शास्त्रार्थ का संकेत नहीं दिया है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि यह शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं। मूलतः प्रभावक चरित्र के लेखक हैं प्रभाचन्द्र सूरि, जो एक चैत्यवासी आचार्य थे एवं सूराचार्य की परम्परा के समर्थक थे। अतः प्रभाचन्द्र द्वारा अपने पूर्वाचार्य की पराजय का उल्लेख करना लेखक की

---

१ कथाकोष, प्रस्तावना

२ जैन लेख संग्रह, प्रस्तावना, भाग ३

३ ओसवाल जाति का इतिहास

४ जिनवाणी, जैन संस्कृति और राजस्थान, पृष्ठ २५६

५ खरतरगच्छ का इतिहास

६ दादा चित्र संपुट

गरिमा के विरुद्ध था। साथ ही जिस ग्रन्थ में सभी प्रभावक चरितकारों का गुण-वर्णन हो, उसमें सूराचार्य को शास्त्र-पराजित बताना उनकी प्रभावकता को कलंकित करने जैसा था। अतः प्रभाचन्द्रसूरि ने इस शास्त्रार्थ-प्रसंग को ग्रन्थ में सम्मिलित करना अनुपयुक्त समझा होगा। हाँ! यदि प्रभाचन्द्र यह लिखते हैं कि जिनेश्वराचार्य एवं सूराचार्य के मध्य कोई शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं, तब तो यह तथ्य विचारणीय हो जाता। जबकि प्रभावक चरित, जिसकी रचना सं० १३३४ में हुई थी, से पहले जिनदत्तसूरि, सुमतिगणि, उपाध्याय जिनपाल आदि ने इस शास्त्रार्थ-प्रसंग का स्पष्ट वर्णन किया है।

सं० १३०५ में रचित युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में खरतरगच्छ का उद्भव एवं उसकी परम्परा आचार्य वर्धमानसूरि एवं आचार्य जिनेश्वरसूरि से स्पष्टतः सम्बन्ध जोड़ा है।

मुनि जिनविजय ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "प्रभावक चरित्र के वर्णन से यह तो निश्चित ही ज्ञात होता है कि सूराचार्य उस समय चैत्यवासियों के प्रसिद्ध और प्रभावशाली अग्रणी थे। वे पंचाक्षर पार्श्वनाथ चैत्य के मुख्य अधिष्ठाता थे। स्वभाव से वे बड़े उग्र और वाद-विवाद-प्रिय थे। अतः उनका वाद-विवाद में अग्र रूप से भाग लेना असम्भव नहीं, परन्तु प्रासंगिक ही मालूम देता है। शास्त्रकार की दृष्टि से यह तो निश्चित ही है कि जिनेश्वराचार्य का पक्ष सर्वदा सत्यमय था। अतः उनके विपक्ष का उसमें निरुत्तर होना स्वाभाविक ही था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राजसभा में चैत्यवासी पक्ष निरुत्तरित होकर जिनेश्वर का पथ राज सम्मानित हुआ और इस प्रकार विपक्ष के नेता का मान-भंग होना अपरिहार्य बना। इसलिए सम्भव है प्रभावक चरितकार को सूराचार्य के इस मान-भंग का उनके चरित्र में कोई उल्लेख करना अच्छा नहीं मालूम दिया हो और उन्होंने

इस प्रसंग को उक्त रूप में न आलोकित कर अपना मौन-भाव ही प्रकट किया हो।[1]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य जिनेश्वर सूरि तथा सूराचार्य आदि चैत्यवासियों के मध्य अणहिलपुर पत्तन में राजा दुर्लभ की अध्यक्षता में शास्त्रार्थ हुआ था। शास्त्रार्थ-विजय कर जिनेश्वरसूरि ने खरतर विरुद प्राप्त किया था। अतः वे खरतरगच्छ के प्रथम आचार्य/आदि प्रवर्तक हुए। इन्हीं जिनेश्वरसूरि की परम्परा में हुए मुनियों ने चैत्यवासियों के विरुद्ध आन्दोलन अनवरत चालू रखा, जो तेरहवीं शताब्दी तक चलता रहा। इस अवधि में अनेक ऐतिहासिक पुरुष एवं घटनाएँ हुईं, जिनसे सुविहित मार्ग विधि पक्ष रूप खरतरगच्छ का अभ्युत्थान हुआ। जिनेश्वरसूरि ने आन्दोलन को शुरू किया था, उसे अभयदेव, देवभद्र, वर्धमान, जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनपति आदि आचार्यों ने पूरा करने का प्रयास किया और उन्हें अपरिमित सफलता प्राप्त हुई। मुनि जिनविजय का अभिवचन है कि इस प्रसंग से जिनेश्वरसूरि की केवल अणहिलपुर में ही नहीं, अपितु सारे गुजरात में और उसके आस-पास के मारवाड़, मेवाड़, मालवा, बागड़, सिंध और दिल्ली तक के प्रदेशों में खूब ख्याति और प्रतिष्ठा बढ़ी। जगह-जगह सैकड़ों श्रावक उनके भक्त और अनुयायी बन गये। अजैन गृहस्थ भी उनके भक्त बनकर नये श्रावक बने। अनेक प्रभावशाली और प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने उनके पास यति मुनि दीक्षा लेकर उनके सुविहित शिष्य कहलाने का गौरव प्राप्त किया। उनकी शिष्य-संतति बहुत बढ़ी और वह अनेक शाखा-प्रशाखाओं में फैली। उसमें बड़े-बड़े विद्वान, क्रियानिष्ठ और गुणगरिष्ठ आचार्य उपाध्यायादि समर्थ साधु पुरुष हुए। चरितादि के रचयिता वर्धमान सूरि, पार्श्वनाथ चरित

---

1 ओसवाल वंश, पृष्ठ ३३-३४

एवं महावीर चरित के कर्ता गुणचन्द्र गणि अपर नाम देवभद्रसूरि, संघ पट्टकादि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता जिनवल्लभसूरि इत्यादि अनेकानेक बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान और शास्त्रकार जो उस समय उत्पन्न हुए और जिनकी साहित्यिक उपासना से जैन वाङ्मय-भंडार बहुत कुछ समृद्ध और सुप्रतिष्ठित बना—इन्हीं जिनेश्वरसूरि के शिष्य-प्रशिष्यों में थे।[1]

---

[1] कथाकोष, प्रस्तावना, पृष्ठ २

तृतीय खण्ड

खरतरगच्छ के आदिकालीन ऐतिहासिक पुरुष

खरतरगच्छ की गौरवमयी परम्परा में अनेकानेक राष्ट्र-सन्त हुए हैं, जिन्होंने अपने ज्ञानबल, योगबल एवं तपोबल के प्रभाव से मानवीय भावनाओं को प्रसारित करते हुए जैनधर्म की महती प्रभावना की। इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह परम्परा विश्व-बन्धुत्व एवं जैनत्व की गरिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रही है। समाज में सच्चरित्रता और एकता के उन्नयन में इस गच्छ के महापुरुषों का अनुदान एक ऐतिहासिक प्रतिष्ठा है।

इस खण्ड में हम उन आदर्श-पुरुषों का सिलसिलेवार अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे, जिनका सम्बन्ध खरतरगच्छ के आदिकाल से है। आदिकाल में हमने वह समय स्वीकार किया है, जिसमें खरतरगच्छाचार्यों ने क्रान्ति के स्वर गुंजाये। यह समय विक्रम की ग्यारहवीं शदी से तेरहवीं शदी तक है।

खरतरगच्छ के आदिकाल में हुए आचार्यों, साधुओं एवं श्रावकों ने जैन धर्मसंघ को धार्मिक समस्याओं से उन्मुक्ति दिलाने का अथक प्रयास किया और निःसन्देह उन्हें आशातीत एवं उच्चस्तरीय सफलता प्राप्त हुई। संघ उनका राशि-राशि ऋणी रहेगा।

खरतरगच्छ की गुरु-परम्परा

वि० सं० १३०५ में रचित 'युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली' में उपाध्याय जिनपाल ने खरतरगच्छ की गुरु-परम्परा आचार्य वर्धमानसूरि और आचार्य जिनेश्वरसूरि से मानी है। खरतरगच्छ के आदि प्रवर्तक आचार्य जिनेश्वरसूरि हैं। उनके गुरु आचार्य वर्धमानसूरि थे। अतः हम प्रस्तुत अध्ययन-क्रम में जिनेश्वरसूरि से पूर्व आचार्य वर्धमानसूरि के इतिहास पर भी एक विहंगम-दृष्टि डालेंगे। वैसे खरतरगच्छ के प्रथम गुरु जिनेश्वर ही हुए, किन्तु उनसे पूर्व गुरु-परम्परा के आदिस्रोत आचार्य सुधर्मा स्वामी हैं। संक्षेप में खरतरगच्छ की आदि गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

१. भगवान महावीर
२. आचार्य सुधर्मा
३. आचार्य जम्बु
४. आचार्य प्रभव
५. आचार्य शय्यंभव
६. आचार्य यशोभद्र
७. आचार्य सम्भूति विजय
८. आचार्य भद्रबाहु
९. आचार्य स्थूलिभद्र
१०. आचार्य महागिरि
११. आचार्य सुहस्ति
१२. आचार्य सुस्थित
१३. आचार्य इन्द्रदिन्न
१४. आचार्य दिन्न
१५. आचार्य सिंहगिरि
१६. आचार्य वज्र
१७. आचार्य वज्रसेन
१८. आचार्य चन्द्र
१९. आचार्य समन्तभद्र
२०. आचार्य वृद्धदेव
२१. आचार्य प्रद्योतन
२२. आचार्य मानदेव
२३. आचार्य मानतुंग
२४. आचार्य वीर
२५. आचार्य जयदेव
२६. आचार्य देवानंद
२७. आचार्य विक्रम
२८. आचार्य नरसिंह
२९. आचार्य समुद्र
३०. आचार्य मानदेव
३१. आचार्य विबुधप्रभ
३२. अचार्य जयानंद
३३. आचार्य रविप्रभ
३४. आचार्य यशोदेव
३५. आचार्य विमलचंद्र
३६. आचार्य देव
३७. आचार्य नेमिचंद्र
३८. आचार्य उद्योतन
३९. आचार्य वर्द्धमान
४०. आचार्य जिनेश्वर[1]

खरतरगच्छ के आदिकालीन ऐतिहासिक-पुरुष

प्रस्तुत खण्ड में हम खरतरगच्छ के ऐतिहासिक पुरुषों का समीक्षात्मक अध्ययन करेंगे। खरतरगच्छ के प्रवर्तक आचार्य जिनेश्वर-सूरि हुए। उनके गुरु आचार्य वर्धमानसूरि हुए। ये भगवान महावीर

[1] खरतरगच्छ-पट्टावली के अनुसार

की पट्ट-परम्परा में उनतालीसवें-चालीसवें आचार्य हुए हैं। अतः हम प्रस्तुत खण्ड में खरतरगच्छ के आदिकालीन अमृत-पुरुषों में आचार्य वर्धमानसूरि को भी सम्मिलित कर रहे हैं। वे मुनि-जीवन की विमलताओं के समर्थक तथा पालक थे।

अब हम आगामी पृष्ठों में उन आदिकालीन ऐतिहासिक पुरुषों एवं घटनाओं का विवेचन करेंगे, जिनसे खरतरगच्छ निरन्तर समुन्नत एवं गौरवान्वित हुआ। इस शृंखला में हम निम्नांकित विशिष्ट २२ व्यक्तियों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) अमृत-पुरुष आचार्य वर्धमानसूरि
(२) महामहिम क्रान्त-दर्शी आचार्य जिनेश्वरसूरि
(३) महत्तरा कल्याणमति
(४) बुद्धिनिधान आचार्य बुद्धिसागरसूरि
(५) महाकवि धनपाल
(६) महाप्रज्ञ आचार्य जिनचन्द्रसूरि
(७) शासन-धन आचार्य धनेश्वरसूरि
(८) अमेय मेधा सम्पन्न आचार्य अभयदेवसूरि
(९) दिव्य विभूति आचार्य देवभद्रसूरि
(१०) अर्हन्नीति-संयोजक आचार्य जिनवल्लभसूरि
(११) विद्वत्-रत्न आचार्य हरिसिंहसूरि
(१२) प्रबुद्धचेता गणि रामदेव
(१३) जिनशासन-सेवी पद्मानन्द
(१४) सम्मान्य आचार्य अशोकचन्द्रसूरि
(१५) जगत्पूज्य आचार्य जिनदत्तसूरि
(१६) मणिधारी आचार्य जिनचन्द्रसूरि
(१७) महावादजयी आचार्य जिनपतिसूरि
(१८) महामनीषी उपाध्याय जिनपाल

(१६) श्रावक-रत्न नेमिचन्द्र भाण्डागारिक

(२०) शासन-प्रभावक आचार्य जिनेश्वरसूरि

(२१) जिनशासन-शिरोमणि आचार्य जिनशेखरसूरि (द्वितीय)

(२२) धर्मानुरागी श्रेष्ठि अभयचन्द्र ।

उक्त ऐतिहासिक पुरुषों में श्रमण एवं श्रावक दोनों ही हैं । यह सूची कालक्रमानुसार है । इनका जीवनवृत्त इतिहास का प्रेरक अध्याय है । इन अमृत-पुरुषों की जीवनी लिखने में मैंने इतिहास और अर्ध-इतिहास की जो भी सामग्री मिलती है, उसका उपयोग किया है । प्रस्तुत है, खरतरगच्छ के आदिकालीन ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनी और जीवन की मुख्य गतिविधियाँ ।

अमृत-पुरुष आचार्य वर्धमानसूरि

आचार्य वर्धमानसूरि ज्ञानसाधना, योगसाधना और आध्यात्मिक साधना के आदर्श प्रतीक हैं । यह वह विरल विभूति है, जिसने शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुरूप उन्नत जीवन जिया और जैन संस्कृति के प्रचार-प्रसार तथा विकास में अनन्य योगदान दिया । आचार्य जिनेश्वरसूरि ने इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर ज्ञान-संयम की ऊर्ध्वगामी भावना के मोती घर-घर पहुँचाये थे । आचार्य वर्धमान चौरासी जिन मन्दिरों के अधिपति थे, किन्तु अध्यात्मनिष्ठ होने के नाते विशुद्ध चरित्र/क्रिया का पालन करने के लिए उन्होंने उस आधिपत्य का परित्याग कर दिया था ।

गुरु-परम्परा

आचार्य वर्धमानसूरि के गुरु आचार्य जिनचन्द्र थे, जो अभोहर देश के चौरासी चैत्यों के अधिपति थे । युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार वर्धमानसूरि सवाद देश कूर्चपुर में चैत्यवासी आचार्य थे और इनका प्रभुत्व उन सभी मन्दिरों पर था, जिन पर उनके गुरु का

आधिपत्य था। सम्यक् शास्त्रीय ज्ञान उपलब्ध हो जाने से उन्होंने विशुद्ध संयम जीवन बिताने के लिए अपनी गुरु-परम्परा का परित्याग कर दिया और चान्द्रकुल बड़गच्छ के संस्थापक आचार्य उद्योतनसूरि की सुविहित परम्परा को स्वीकार कर लिया। अतः यही कहा जाना चाहिये कि वर्धमान आचार्य उद्योतनसूरि के शिष्य थे। आचार्य उद्योतन भगवान् महावीर की पट्ट-परम्परा के अड़तीसवें आचार्य थे। 'वृद्धाचार्य प्रबन्धावली' ग्रन्थ में उद्योतनसूरि को 'अरण्यचारी-गच्छ-नायक'[1] बताया गया है।

जीवन-वृत्त

वर्द्धमान के गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी किंचित भी संकेत प्राप्त नहीं होते हैं। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार वर्द्धमान एकदा शास्त्र-पठन कर रहे थे। उसी समय उन्होंने शास्त्र में वर्णित जिनमंदिर विषयक चौरासी आशातनाओं का विवेचन पढ़ा। वर्द्धमान को लगा कि जिन आशातनाओं को श्रावक के लिए भी वर्ज्य बताया है, उन्हें यति-मुनियों द्वारा क्रियान्वित करना वस्तुतः मुनित्व से च्युत होना है। यदि मैं इन आशातनाओं तथा दोषों से स्वयं को तथा दूसरों को भी बचाऊँ तो इससे आत्म-श्रेयस् भी होगा।

वर्द्धमान ने अपने इन विचारों को आचार्य जिनचन्द्र के सामने व्यक्त किया। आचार्य ने सोचा कि वर्द्धमान ने शास्त्रों से करणीय एवं अकरणीय आचार-व्यवहारों को गहराई से समझ लिया है। लगता है कि इसकी अन्तर-दृष्टि खुल गई है और यह हमारे विपरीत कार्य भी कर सकता है। क्यों न इसे कोई विशिष्ट पद-भार सौंप दूँ, जिससे यह मेरा समर्थक बना रहे।

आचार्य-जिनचन्द्र ने वर्द्धमान को आचार्य-पद पर स्थापित कर दिया। किन्तु जिस व्यक्ति ने आत्म-जागृति को उपलब्ध कर लिया

---

[1] वृद्धाचार्य प्रबन्धावलिः, श्री वर्द्धमानसूरिप्रबन्धः, पत्र १

है, वह ऐसे प्रलोभनों में नहीं फँस सकता। इसीलिए आचार्य-पद प्राप्ति के बाद भी वर्द्धमान का मन चैत्यगृह में वास करने के लिए स्थिर नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने पण्डित जिनेश्वर आदि के साथ दिल्ली, वादली आदि प्रदेशों की ओर प्रस्थान कर दिया।

उन प्रदेशों की ओर आचार्य नेमिचन्द्रसूरि के शिष्य आचार्य उद्योतनसूरि विचरण करते थे। वर्द्धमान ने उनके सान्निध्य में आगम एवं आगमेतर शास्त्रों का समुचित अध्ययन किया और उन्हीं के पास पुनः दीक्षा ग्रहण की। तब से आचार्य उद्योतनसूरि इनके गुरु कहलाए। उद्योतन ने वर्द्धमान की योग्य पात्रता को देखते हुए उन्हें आचार्य-पद प्रदान किया।[1] अब आचार्य वर्द्धमानसूरि पर संघ-संचालन का महान उत्तरदायित्व आ गया।

एक बार वर्द्धमानसूरि ने सूरि-मंत्र के अधिष्ठाताओं की जानकारी पाने के लिए अर्बुदगिरि पर अट्ठम-तप/त्रयोपवास किया। तप-समाप्ति पर धरणेन्द्र नामक देव प्रकट हुआ और उसने कहा कि मैं ही सूरि-मंत्र का अधिष्ठाता हूँ। देव ने सूरि-मंत्र के दो पदों का पृथक-पृथक प्रतिफल भी बताया। इससे आचार्य-मंत्र स्फुरायमान हो गया, जिससे वर्द्धमानसूरि एक प्रभावशाली आचार्य हो गये।[2] महोपाध्याय समयसुन्दर के शब्दों में—

यकः शोधयामास वै सूरिमन्त्रं,
गिरीन्द्रार्बुदस्याद्भुतेश्रृंग भागे।

---

१ द्रष्टव्य—
क) खरतरगच्छालंकार-युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पत्र १
ख) खरतरगच्छ-पट्टावली, पत्र-२

२ क) युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली, पत्र १-२
ख) वृद्धाचार्य प्रबन्धावलिः, पत्र १-३, (इस ग्रंथ में यह घटना विस्तार-पूर्वक दी गई है)

विधायाष्टमं सन्नमन्नागनाथस्ततो,
वर्धमानाभिधः सूरिरासीत् ॥[1]

वर्धमानसूरि पाटण में हुए शास्त्रार्थ में सम्मिलित थे, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। आबू तीर्थ का प्रकटीकरण भी वर्धमानसूरि ने किया। इन्होंने ६ मास तक 'सूरि-मंत्र' की साधना की। सूरि-मंत्र का शुद्धिकरण भी इन्होंने ही धरणेन्द्र के द्वारा सीमन्धर स्वामी से करवाया था। 'पयडीकयसूरिमन्त' और 'आबु उपरि मास ६ सीम, साधिउ सूरि मन्त्रइ नीम' आदि प्रमाणों का उल्लेख परवर्ती विद्वानों ने किये हैं।

इस प्रकार आचार्य वर्धमानसूरि ने चैत्यवास का परित्याग कर आचार-संस्कार किया और एक आदर्श श्रमण जीवन व्यतीत करने लगे, किन्तु उन्होंने चैत्यवास के विरोध में कोई व्यापक कदम उठाया हो ऐसा उल्लेख अनुपलब्ध है। चैत्यवासियों के विरुद्ध आन्दोलन का सूत्रपात जिनेश्वर द्वारा हुआ था। हाँ, जिनेश्वर को इस ओर कदम उठाने में एवं आन्दोलन चलाने में इनका पूर्णरूपेण सान्निध्य एवं सहयोग रहा था।

इनका व्यक्तित्व अप्रतिम था। इनके अनेक उद्भट् विद्वान शिष्य हुए, जिनमें आचार्य जिनेश्वर एवं बुद्धिसागरसूरि का नाम उल्लेखनीय है। पाटण का नरेश दुर्लभराज आपका परम भक्त था। श्री वर्धमानसूरि ने राज-सन्मान के साथ शिष्य-समुदाय सहित सम्पूर्ण देश में विचरण किया। उनसे टक्कर लेने का कोई भी साहस न जुटा पाया।[2]

जन-प्रतिबोध एवं गोत्र-स्थापन

आचार्य वर्धमानसूरि की ज्ञान-प्रखरता तथा चारित्र-निष्ठा का धर्मसंघ पर अप्रतिम प्रभाव पड़ा। उनके उपदेशों से अनेक राजवंशीय

---

१ अष्टलक्षार्थी, प्रशस्ति-७

२ द्रष्टव्य—खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली, पृष्ठ-५

लोग प्रतिबुद्ध हुए। विक्रम संवत् १०७३ में वर्धमानसूरि ने पीपाड़ नगर के स्वामी गहलोत क्षत्रिय कर्मचन्द्र को श्रावकोचित प्रतिबोध देकर जैन बनाया और उन्हें पीपाड़ा गोत्र प्रदान किया। विक्रम संवत् १०७६ में दिल्ली के सोनिगरा चौहान राजा के पुत्र बोहित्थ को सांप ने काट खाया। बोहित्थ को मृतक समझकर श्मशान ले जाने लगे, किन्तु वर्धमानसूरि की अमृत-स्राविनी दृष्टि पड़ते ही उसे होश आ गया। प्रभाववश राजा एवं उसके पुत्र ने जैनधर्म स्वीकार किया। उन्होंने सचेतता प्राप्त करने के कारण जैनत्व स्वीकार किया, इसलिए वर्धमानसूरि ने 'सचेती' गोत्र स्थापित किया। इसी प्रकार लाढ़ा-महेश्वरियों को धर्मोपदेश देकर उन्हें जैन श्रावक बनाया। लोढ़ा गोत्र उन्हीं से प्रख्यात् हुआ।

स्वर्गारोहण

वर्धमानसूरि का स्वर्गारोहण कब हुआ, उसका संवतोल्लेख नहीं मिलता है। उपाध्याय जिनपाल के अनुसार वर्धमानसूरि ने अर्बुदशिखर तीर्थ पर सिद्धान्तविधि-पूर्वक, संलेखना व्रत ग्रहण कर देवत्व प्राप्त किया।[1]

साहित्य

आचार्य वर्धमानसूरि एक समर्थ विद्वान थे। शास्त्रार्थ में उनकी निपुणता थी। साहित्य-लेखन उनकी सारस्वत-प्रवृत्ति थी। उनकी कतिपय कृतियाँ प्राप्त हुई हैं—

१. श्रावकमुखवस्त्रिका-कुलक

२. उपदेश-पद-टीका

३. उपदेशमाला बृहद् वृत्ति

४. उपमिति भव-प्रपंच कथा[2]

---

[1] खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली, पृष्ठ-५

[2] मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी ग्रंथ, परिशिष्ट

समय-संकेत :

आचार्य वर्धमानसूरि का समय वि० सं० १०२० से १०८८ तक माना जाता है। आपका नामोल्लेखपूर्वक सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमा-अभिलेख कटिग्राम में से वि० सं० १०४६ का प्राप्त होता है। उनके समय में सपाद लक्षदेश में अल्लराजा के पौत्र भुवनपाल का शासन था।[1]

महामहिम क्रान्तदर्शी आचार्य जिनेश्वरसूरि

आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि खरतरगच्छ की आधार-शिला हैं। यही वह बीज है जिससे खरतरगच्छ का वट-वृक्ष अंकुरित एवं पल्लवित हुआ। जिस गच्छ में भारतीय संस्कृति को ज्योतिर्मय बनाने के लिए समय-समय पर अनेकानेक कार्य एवं बलिदान हुए, उस गच्छ का आचार्य जिनेश्वरसूरि द्वारा प्रवर्तित होना एक स्वर्णिम ऐतिहासिक पहलू है। वास्तव में जैसा बीज होगा तदनुरूप ही उसका वृक्ष होगा। आखिर बीज में ही तो आच्छन्न है विशाल वटवृक्ष का भविष्य। आचार्य जिनेश्वरसूरि के प्रखर पाण्डित्य, उत्कृष्ट चारित्र, गम्भीर व्यक्तित्व और प्रबुद्ध कृतित्व के फलस्वरूप ही उनका गच्छ अनुपमेय व्यवस्थामूलक तथा नैतिक पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित रहा। अपने समय के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य सूर को शास्त्रार्थ में पराजित कर धर्म संघ में स्वयं की प्रतिष्ठा को अधिकाधिक विस्तारित किया। वे अपने समय के अद्वितीय प्रज्ञा-निष्पन्न व्यक्तित्व थे।

जीवन-वृत्त

प्रभावक-चरितकार आदि के अनुसार जिनेश्वर गृहस्थ जीवन में मध्यदेश के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृष्ण था, जो एक ब्राह्मण जाति के थे। जिनेश्वर का जन्म-नाम श्रीधर था, और उनके भाई

---

[1] प्रभावकचरित, पृष्ठ १६२

का नाम श्रीपति था। दोनों भाई कुशाग्र बुद्धि-सम्पन्न एवं प्रतिभावान् थे। उन्होंने उच्चस्तरीय अध्ययन किया। देश-भ्रमण की भावना से वे घूमते-घूमते धारा, नगरी पहुँचे जो उस समय का महासांस्कृतिक केन्द्र था। उस नगर के राजा अधिकारीगण एवं नागरिकगण आदि विद्या तथा विद्वान् दोनों का सम्मान करते थे।

उसी नगर में जैन धर्मानुयायी एक श्रेष्ठि रहता था, जिसका नाम लक्ष्मीपति था। ये दोनों भाई उसी श्रेष्ठि के यहाँ पहुँचे। लक्ष्मीपति दोनों की आकृति एवं प्रकृति से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उन्हें नित्य भोजन कराने लगा। उन दिनों लेखे-जोखे मकान या दुकान की दीवारों पर लिखने की प्रथा थी। उन दोनों भाइयों ने उन लेखों को दिवाल पर लिखा हुआ देखा। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी प्रखर थी कि पढ़ते ही सारा लेख उनके मस्तिष्क पर अंकित हो गया।

संयोगवश लक्ष्मीपति के भवन में आग लग गयी, जिससे भवन को अत्यधिक क्षति पहुँची। सर्वाधिक क्षति तो यह हुई कि अग्निकाण्ड में वह दीवार नष्ट हो गई, जिस पर लेखा अंकित था। जब दोनों भाइयों ने उन लेखों को अक्षरशः सुना दिया तो लक्ष्मीपति उनकी विद्या से बहुत प्रभावित हुआ और उनका आदर-सत्कार भी अधिक होने लगा।

एक दिन लक्ष्मीपति ने इन दोनों भाइयों को आचार्य वर्द्धमानसूरि का दर्शन कराया। आचार्य इन दोनों भाइयों से प्रभावित हुए और दोनों भाई भी आचार्य से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। परस्पर आकर्षण हो जाने के कारण दोनों भाई प्रतिदिन आचार्य के पास जाया करते थे और उनके साथ तात्त्विक चर्चा किया करते थे। सत्संग का रंग चढ़ा। दोनों भाइयों ने अपने को श्रमण-पथ पर नियोजित कर दिया। इन्होंने जैन आगमों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया और

अल्प समय में ही वे महापंडित हो गए। उन्हें आचार्य-पद पर अभिषिक्त किया गया। वे क्रमशः जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

प्रभावक-चरित्र के अनुसार वर्द्धमानसूरि ने जिनेश्वर तथा बुद्धिसागर को चैत्यवासियों के मिथ्याचार का प्रतिकार करने के लिए प्रेरित किया और आदेश दिया कि वे लोग अणहिलपुरपत्तन जाएँ और वहाँ सुविहित साधुओं के लिए जो विघ्न-बाधाएँ हों, उन्हें अपनी शक्ति एवं बुद्धि से दूर करे। अतः इन दोनों ने गुर्जर-देश की ओर विहार कर दिया और धीरे-धीरे अणहिलपत्तन में पहुँच गये।[१] जबकि युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली के अनुसार पंडित जिनेश्वर ने वर्द्धमानसूरि से निवेदन किया, भगवन्! यदि कहीं देश-विदेश में जाकर जिनधर्म का प्रचार न किया जाय तो मेरे जिनमत के ज्ञान का फल क्या है? सुना है कि गुर्जर देश बहुत विशाल है और वहाँ चैत्यवासी आचार्य अधिक संख्या में रहते हैं। अतः हमें वहाँ चलना चाहिए। यह सुनकर वर्द्धमानसूरि ने कहा, ठीक है, किन्तु शकुन निमित्तादिक देखना परम आवश्यक है। इससे सब कार्य शुभ होते हैं। पश्चात् वर्द्धमानसूरि सत्रह शिष्यों को साथ लेकर भामह नामक बड़े व्यापारी के संघ के साथ चले। क्रमशः विहार करते वे पाली पहुँचे। एक समय जब वर्द्धमानसूरि पंडित जिनेश्वर गणि के साथ बहिर्भूमिका (शौचार्थ) जा रहे थे, तब उन्हें सोमध्वज नामक जटाधर योगी मिला और उसके साथ सुन्दर वार्तालाप हुआ। वार्तालाप के प्रसंग में सोमध्वज ने प्रश्न पूछा—

> का दौर्गत्यविनाशिनी हरिविरिञ्च्युग्र प्रवाच्यो च को,
> वर्णः को व्यपीयनयते च पथिकैखयदोण श्रमः।
> चन्द्रः पृच्छति मन्दिरेषु मरूतां शोभाविधायी चको,
> दक्षिण्येन नयेन विश्व विदित को भूरि विभ्राजते॥

---

१ प्रभावक चरित्र (४३-४५)

अर्थात् दरिद्रता का नाश करनेवाली वस्तु क्या है ? ब्रह्मा, विष्णु, शिव का वाचक वर्ण क्या है ? पथिक लोग अपने किस श्रम को आदरपूर्वक दूर करना चाहते हैं ? देव-मन्दिरों में शोभा बढ़ानेवाली वस्तु क्या है ? और जगत में चतुरता तथा न्याय आदि गुणों से विश्व-विख्यात् होकर कौन प्रकाशमान है ?

सूरि ने "सोमध्वज" कहकर इन पाँचों प्रश्नों का उत्तर एक ही पद में दे दिया। साहित्यकारों ने इसका नाम 'द्वित्र्यस्त समस्त जाति' रखा है। इसका अर्थ यह है कि दो बार सन्धि-विश्लेषण करके तीसरी बार समस्त वाक्य को पढ़ना चाहिए, अर्थात् प्रथम सन्धि-विश्लेषण में "सोमध्वज" से चौथे एवं समस्त वाक्य "सोमध्वज" से पाँचवें प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित है—

दरिद्रता का नाश करनेवाली सा—लक्ष्मी है। ओम् यह वर्ण ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों का वाचक है। पथिक लोग "अध्वज" यानी मार्ग/जीवन-श्रम को बड़े मनोयोग से दूर करना चाहते हैं। हे सोम (चन्द्र)! देवताओं के मन्दिरों में शोभावर्धक वस्तु ध्वज है। चतुराई और नीति में विश्व-विख्यात् यदि कोई है तो वह आप (सोमध्वज) हैं। यह उत्तर सुनकर वह तपस्वी बहुत प्रसन्न हुआ और उसने सूरि की बहुत भक्ति की।

फिर सूरि उसी भामह सेठ के संघ के साथ चलते हुए गुजरात की प्रसिद्ध नगरी अणहिलपुरपाटण में पहुँचे।[१]

प्रभावक चरित्र एवं युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में वर्णित उक्त दोनों घटनाओं में से द्वितीय घटना ही अन्य ग्रन्थों में अधिकांशतः प्राप्त होती है।

---

[१] युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृष्ठ ३-४

प्रभावक चरितकार ने आगे यह बताया है कि अणहिलपुर पत्तन में इन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। चैत्यवासियों का प्रभाव होने के कारण इन लोगों को ठहरने का कहीं भी स्थान नहीं मिला। अन्त में ये सोमेश्वर नामक पुरोहित के घर पहुँचे। वहाँ जिनेश्वर ने अपनी प्रतिभा तथा विद्वत्ता के संकेत स्वरूप वेद-मंत्रों का उच्चारण किया और वेद के ब्राह्म, पैत्य और दैवत रहस्यों का उद्घाटन किया। सोमेश्वर आगन्तुक के ज्ञान-गाम्भीर्य को देखकर स्तम्भित-सा हो गया। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि उसकी समस्त इन्द्रियों की चेतनता उसकी श्रुतियों में ही आ गई है—

तद्ध्वानध्यान निर्मग्नचेताः स्तविभवत सदा।
समग्रेन्द्रिय चैतन्यं, श्रुत्योरवेस नीववान्॥[१]

सोमेश्वर ने उनका आदर करने के लिए अपना आसन छोड़ दोनों आगन्तुकों को आसन प्रदान किया। आचार्य जिनेश्वर ने इस अगवानी पर आशीर्वाद दिया—

अपाणिपादो मनोग्रहीता पश्यत्व चक्षुःसश्रृणोत्यकर्णः
स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ताशिवो ह्यरूपीस जिनोवताद्दक।

यह सुनकर पुरोहित सोमेश्वर अत्यधिक आह्लादित हुआ। उसने उनके प्रति सद्भावना एवं सहानुभूति व्यक्त करने के लिए उनका परिचय पूछा। जिनेश्वर ने प्रत्युत्तर स्वरूप अपना परिचय एवं समग्र वस्तुस्थिति बता दी। सोमेश्वर ने विद्वान सन्तों का समादर करना अपना कर्त्तव्य समझा और उसने चन्द्रशाला में इन्हें ठहरने के लिए स्थान दे दिया। दोनों आचार्य अपने श्रमण-वर्ग सहित यथोचित श्रमण-धर्म का पालन करते हुए वहाँ रहने लगे।

गणधरसार्धशतक वृत्ति एवं युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में उक्त प्रसंग

---

१ युग प्रधानाचार्य गुर्वावली —

को विस्तारपूर्वक दिया गया है। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में लिखा है कि आचार्य वर्धमानसूरि अपने १८ शिष्यों सहित अणहिल्लपत्तन गये और नगर के बाहर खुली मण्डपिका अर्थात् राजकीय चुंगीघर में ठहरे। उस समय वहाँ उसके आस-पास कोट नहीं था, जिससे सुरक्षा हो। इसके अतिरिक्त शहर में सुविहित साधुओं का कोई भक्त श्रावक भी नहीं रहता था, जिसके पास जाकर स्थानादि की याचना की जा सके। अन्त में आचार्यश्री को ग्रीष्म से आक्रान्त देखकर जिनेश्वर ने कहा, पूज्यपाद! बैठे रहने से कोई कार्य नहीं होता। आचार्य ने कहा, क्या करना चाहिए? जिनेश्वर ने निवेदन किया—यदि आप आज्ञा दें तो सामने जो बड़ा घर दिखाई दे रहा है वहाँ जाऊँ, शायद वहीं स्थान मिल जाय। आचार्यश्री ने कहा जाओ तब। गुरु को वन्दन कर वे वहाँ से चले।

वह भवन राजा दुर्लभराज के पुरोहित का था। उस समय वह पुरोहित अपने शरीर में अभ्यंग मर्दन करा रहा था। जिनेश्वर ने उसके सामने जाकर आशीर्वाद दिया—

श्रिये कृतनतांनदा, विशेष वृष संगताः।
भवन्तु तव विप्रेन्द्र! ब्रह्म श्रीधर शंकराः॥

अर्थात् हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! भक्तों को आनन्द देने वाले, क्रमशः हंस, शेषनाग और वृषभ पर चढ़ने वाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव आपका श्रेय करें।

यह सुनकर पुरोहित बहुत प्रसन्न हुआ और मन में विचार किया कि यह साधु कोई विचक्षण बुद्धिमान् ज्ञात होता है।

पुरोहित के घर अनेक छात्र वेद-पाठ कर रहे थे। उसे सुनकर पंडित जिनेश्वर ने कहा, इस तरह पाठ मत करो। यह सुनकर पुरोहित ने कहा, शूद्रों को वेद पठन-पाठन का अधिकार नहीं है, तो तुम कैसे जान सके कि यह पाठ अशुद्ध है? गणि जिनेश्वर ने कहा, सूत्र और

अर्थ से चतुर्वेद को जानने वाले हम चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं। तब प्रसन्न होकर पुरोहित ने पूछा, आप कहाँ से पधारे हैं और यहाँ कहाँ विराज रहे हैं? जिनेश्वर ने उत्तर दिया, हम दिल्ली प्रान्त से आये हैं और इस देश में हमारे विरोधी व्यक्ति होने के कारण हमें कोई उचित स्थान नहीं मिला है। अभी शहर के बाहर चुंगीघर में ठहरे हैं। यह सुनकर पुरोहित ने कहा, वह चतुःशाला वाला मेरा मकान है। इसमें एक ओर पर्दा बांधकर एक शाला में आप सब सुखपूर्वक विराजें। भिक्षा के समय मेरे कर्मचारी का आपके साथ रहने से ब्राह्मणों के घरों में आपको सुखपूर्वक भिक्षा प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार पुरोहित के आग्रह से ये लोग उसकी चतुःशाला के एक भाग में आकर ठहर गये।

प्रभावक चरित में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार इन साधुओं के आगमन से पुरोहित के भवन में नगर के अनेक प्रतिष्ठित पंडितों का जमघट होने लगा। प्रतिदिन मध्याह्न में याज्ञिक, स्मार्त, दीक्षित, अग्निहोत्री ब्राह्मण आते और शास्त्र-चर्चा करते। वहाँ ऐसा विद्या-विनोद होने लगा, जैसा ब्रह्मा की सभा में होता था। देखिए, प्रभावक चरितकार के शब्दों में—

मध्याह्ने याज्ञिक स्मार्त दीक्षिताग्नि होत्रिणः।
आह्य दर्शितौ तत्र निर्व्यूटो तत्परीक्षया॥
या वदे विद्या विनोदो यं स्थापिताावाश्रयेनिजे।[1]

इस बात की ख्याति नगर में फैल गई और चैत्यवासी लोग भी वहाँ आये। चैत्यवासियों को इन वसतिवासी मुनियों की प्रतिष्ठा देखकर बड़ी ईर्ष्या हुई और उन्होंने उन मुनियों को नगर से बाहर निकल जाने को कहा, क्योंकि उनके अनुसार चैत्य-बाह्य मुनियों का नगर में ठहरना राजाज्ञा से निषिद्ध था। राजपुरोहित ने चैत्यवासियों की इस बात पर आपत्ति की और कहा कि इसका निर्णय राज्यसभा में होगा।

१ प्रभावक चरित, ६२-६३

उपाध्याय जिनपाल एवं गणि सुमति आदि ने उपर्युक्त प्रसंग का उल्लेख दूसरे ढंग से किया है—यह बात सारे शहर में फैल गई कि वसतिवासी कोई नवीन यति-मुनि लोग आये हैं। स्थानीय चैत्यवासी यतियों ने भी जब यह बात सुनी तो उन्हें उनका आगमन अच्छा नहीं लगा और यह सोचकर उनका प्रतिकार करने लगे कि रोग उत्पन्न होते ही उसे नष्ट कर दिया जाय। चैत्यवासियों ने अधिकारियों के उन बच्चों को जो उनके पास अध्ययन करते थे, मिठाई देकर प्रसन्न किया और उनके द्वारा नगर में यह बात फैलाई कि ये परदेशी मुनि के रूप में कोई गुप्तचर आये हैं, जो दुर्लभराज के रहस्यों को जानना चाहते हैं। फलस्वरूप यह बात जनसाधारण में प्रसारित हो गई और क्रमशः राज्यसभा तक जा पहुंची। तब राजा ने कहा, यदि यह बात यथार्थ है और ऐसे क्षुद्र पुरुष आये हैं तो किसने उन्हें आश्रय दिया है? तब किसी ने कहा, राजन्! आपके राजपुरोहित ने ही उन्हें अपने घर में ठहराया है। उसी समय राजा की आज्ञा से पुरोहित को राज्य-सभा में बुलाया गया। राजा ने पुरोहित से पूछा, यदि ये धूर्त पुरुष हैं तो आपने इन्हें अपने यहाँ आश्रय क्यों दिया? पुरोहित ने कहा, यह गलत बात किसने फैलायी है? मैं लाख पारुत्थ (एक प्रकार की मुद्रा) की शर्त लगाने के लिए ये कौड़ियाँ फेंकता हूँ। इन्हें दोषयुक्त सिद्ध करने वाला इन कौड़ियों को स्पर्श करे। परन्तु किसी ने कौड़ियों का स्पर्श नहीं किया। तदर्थ पुरोहित ने राजा से कहा, वे मेरे घर में ठहरे हुए यतिजन साक्षात् धर्म-पुंज दिखाई देते हैं। उनमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। यह सुनकर सूराचार्य आदि स्थानीय चैत्यवासी यतियों ने विचार किया कि इन विदेशी मुनियों को शास्त्रार्थ में जीत कर निकाल देना चाहिए। उन्होंने पुरोहित से कहा कि हम तुम्हारे घर में रुके हुए मुनियों के साथ शास्त्र-विचार करना चाहते हैं। पुरोहित ने वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वर गणि आदि को सारी वस्तु-स्थिति से अवगत कराया। जिनेश्वर ने कहा—ठीक है, आप

भयभीत न हों और उनसे यह कह दें कि यदि आप लोग उनके साथ वाद-विवाद करना चाहते हैं तो राजा दुर्लभराज के सामने या जहाँ भी आप शास्त्रार्थ करने के लिए कहेंगे वहाँ वे शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हैं। यह सुनकर चैत्यवासी यतियों ने सोचा कि यहाँ के सब अधिकारी हमारे वशीभूत है। अतः हमें इनसे कोई भय नहीं है। इसलिए राजा के समक्ष राज्य-सभा में ही शास्त्र-विचार किया जाये, उन्होंने कहा।[१]

प्रभावक चरितकार के अनुसार तो पुरोहित ने राज्यसभा में केवल यही कहा था कि मैंने केवल गुणग्राहकता की दृष्टि से ही इन साधुओं को आश्रय दिया है और इन चैत्यवासियों ने इनका अपमान किया है। इसमें यदि कोई मेरा अपराध हो तो मैं दण्ड ग्रहण करने के लिए तैयार हूँ।[२] किन्तु समदर्शी राजा ने कहा—

मत्पुरे गुणिनः कस्माद्देशान्तरत आगताः।
वसन्तः केन वार्येत को दोषस्तद्दश्यते॥[३]

इस पर सूराचार्य ने राजा को कहा, इस नगर स्थापक चपोत्कट-वंशीय वनराज ने "वनराज विहार" नाम धेयक भगवान पार्श्वनाथ मंदिर की स्थापना करके यह व्यवस्था दे दी थी कि यहाँ केवल चैत्यवासी यतिजन ही ठहर सकते हैं। राजा ने कहा, ठीक है, किन्तु मुनियों का आदर भी होना चाहिए। राजा ने चैत्यवासियों से बाहर से समागन्तुक मुनियों को वहाँ रहने देने के लिए आग्रह किया। इसी समय शैवाचार्य ज्ञानदेव वहाँ आ पहुँचे। राजा ने उनका गुरु के रूप

---

१ युगप्रधानाचार्य गुर्वावली।

२ मयाच गुणग्राहत्वात् स्थापिता बाश्रये निजे।

३ अत्रादिशत् मे क्षण दण्डं चात्रयथार्हतम।
श्रुत्वेत्याह स्मितं कृत्वाभूपालं समदर्शनः॥
—प्रभावक चरित : ६८-६९

में स्वागत किया और कहा कि ये जैन ऋषि लोग यहाँ आये हुए हैं, इन्हें आप उपाश्रय प्रदान करें। यह सुनकर शैवाचार्य ने हँसते हुए कहा, राजन! आप मुनियों का सम्मान कर रहे हैं, यह बहुत अच्छी बात है। वास्तव में शिव और जिन एक ही हैं। केवल मूर्खतावश इनको अलग-अलग मान लिया गया है—

शिव एव जिनो बाह्यत्यागात् पर पदस्थितः।
दर्शनेषु विभेदो हि मिथ्यामते रिदं ॥[1]

यह कहकर शैवाचार्य ने "त्रिपुरुष प्रासाद" नामक शिव मंदिर के पास ही कणहट्टी में उपाश्रय निर्माण हेतु स्वीकृति प्रदान की और एक ब्राह्मण को यह कार्य करने के लिए नियुक्त किया। उपाश्रय कुछ ही दिनों में निर्मित हो गया। महोपाध्याय विनयसागर के मतानुसार सम्भवतः इसी समय से वसतियों अर्थात् उपाश्रयों की परम्परा शुरू हो गई।[2]

इसके पश्चात् दोनों पक्षों में शास्त्रार्थ/वाद-विवाद हुआ। जिसका विवेचन हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं। यहाँ इसका पिष्टपेषण करना उचित नहीं है।

अणहिलपुर पत्तन से आचार्य जिनेश्वरसूरि ने किन-किन प्रदेशों में विहार किया उसका विस्तृत उल्लेख तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु अष्टक प्रकरण वृत्ति की रचना उन्होंने वि० सं० १०८० में जालोर नगर में की थी। जिससे सिद्ध किया जा सकता है कि सं० १०८० में वे जालोर गये थे। वि० सं० १०९२ में उन्होंने अनेकार्थ एवं संयुक्त वैदग्ध्यपूर्ण लीलावती कथा नामक रचना निबद्ध की थी, जिसमें रचना-स्थल आशापल्ली निर्दिष्ट है। अतः जिनेश्वरसूरि ने १०९२ में आशापल्ली के क्षेत्रों की यात्रा की थी। वि० सं० १०९५ में वे पुनः जालोर गये

---

[1] प्रभावक चरित, ८६

[2] वल्लभ भारती, पृष्ठ २४

थे, यह तथ्य उनकी चैत्यवन्दनक नामक कृति से प्रगट होता है। कथा-कोष प्रकरण में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार विदित होता है कि वि० सं० ११०८ में वे डिण्डियाणा में गये थे। (वर्तमान में इसे डीडवाणा कहते हैं, जो जोधपुर, राजस्थान, जनपद के पर्वतसर तालुकान्तर्गत है।) यद्यपि उन्होंने अनेक प्रदेशों में विचरण किया होगा, किन्तु उक्त उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रामाणिक संकेत प्राप्त न होने से उनके बारे में कोई वर्णन नहीं किया जा सकता।

आचार्य जिनेश्वरसूरि के बारे में संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह व्यक्तित्व क्रान्तिकारिता, ओजस्विता, विद्वता, आचार-निष्ठता श्रद्धाभिभूतता आदि गुणों से समन्वित था। वे खरतरगच्छ के प्रवर्तक रूप में प्रसिद्ध हुए।

आचार्य जिनेश्वर के अथक् प्रयासों के कारण जैन समाज एवं परम्परा में विस्तृत परिमाण में परिवर्तन हुआ और इस तरह एक नूतन युग की शुरूआत हुई। जिनेश्वर ने प्रचलित परम्पराओं का संस्कार किया और उसमें प्रथम सफलता प्राप्त की। गृहस्थ और श्रमण दोनों वर्गों में नई जागृति, नई एकता की भावना विकसित हुई। चैत्यवासी यतिजनों ने भी क्रियोद्धार करके आचार-संस्कार किया और जो चैत्यवासी यतिजन परम्परागत गण/कुल के रूप में जिन मंदिरों/चैत्यों में निवास करते, उनकी व्यवस्था आदि का कार्य श्रावक संघ को प्रदान कर दिया गया। अब वे एकता के सूत्र में आबद्ध होने लगे। जिनेश्वर तो उस ऐक्य माला के सुमेरू थे। आचार-संस्कारित यतिजन विविध अंचलों में पाद-विहार करने लगे और वे लोग आत्म-साधन के साथ-साथ आगम अध्ययन तथा ग्रन्थ लेखन-सम्पादन के कार्य भी क्रियान्वित करने लगे। समाज में अहिंसा, अनासक्ति, अनाग्रह, असंग्रह आदि उदात्त अमृत भावनाओं का उनके द्वारा प्रसार होने लगा। इन सबके प्रयास से ही नये जैन बने और जैनों की संख्या

में अभिवृद्धि हुई। सुखसंपतराज भंडारी की शोध के अनुसार जिनेश्वरसूरि ने श्रीपति, ढढ्ढा, तिलौरा, भण्शाली (चील महता) आदि गोत्रों की स्थापना की।[1] इस आदर्श कार्य का समस्त श्रेय जिनेश्वरसूरि को प्रदान करते हुए सबको गौरव की अनुभूति हुई। इसलिए जिनेश्वर के परवर्ती विद्वानों ने इन्हें "युग प्रधान" की महान् उपमा से उपमित किया है, जो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की महनीयता को उजागर करता है। इनके सम्बन्ध में मुनि जिनविजय ने लिखा है कि यों तो प्राचीन काल में जैन सम्प्रदाय में सैकड़ों ही ऐसे समर्थ आचार्य हुए हैं, जिनका संयमी जीवन जिनेश्वरसूरि के समान ही महत्वशाली और प्रभावपूर्ण था, परन्तु जिनेश्वरसूरि के जैसा विशालप्रज्ञ और विशुद्ध संयमवान्, विपुल शिष्य समुदाय शायद बहुत थोड़े आचार्यों को प्राप्त हुआ होगा।[2]

शिष्य-परिवार

आचार्य जिनेश्वर के व्यक्तित्व का जनसाधारण पर इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि अनेक लोगों ने उनके पास दीक्षा अंगीकार की। प्राप्त साक्ष्यों से अवगत होता है कि उनका शिष्य-परिवार अति समृद्ध था। वह भी इन्हीं की भाँति साधनाशील, वैदुष्यपूर्ण, वादी, साहित्यकार एवं प्रभावशाली हुआ। उन्होंने अपने शिष्यों में से जिनचन्द्र अभयदेव, धनेश्वर, जिनभद्र और हरिभद्र को आचार्य पद से विभूषित किया और धर्मदेव, सुमति, सहदेव और विमल को उपाध्याय पदारूढ़ किया। भला जिस गुरु के शिष्यों में एक साथ चार आचार्य पदधारी और तीन उपाध्याय पदधारी हों उसका शिष्य-परिवार भी विशाल होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। 'युग-प्रधानाचार्य गुर्वावली' में जिनेश्वर के शिष्य-परिवार के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण

---

१ ओसवाल जाति का इतिहास, उद्धृत ओसवाल वंश, पृष्ठ ३८

२ मणिधारी श्री जिनचंद्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ४

उल्लेख प्राप्त होते हैं और वह यह कि आचार्य जिनेश्वरसूरि ने जिनचन्द्र अभयदेव, धनेश्वर, हरिभद्र, प्रसन्नचन्द्र, धर्मदेव, सहदेव सुमति आदि अनेक व्यक्तियों को दीक्षा देकर अपने शिष्य बनाये। जिनेश्वरसूरि ने जिनचन्द्र और अभयदेव को योग्य पात्र जानकर सूरि-पद से विभूषित किया और वे श्रमण-धर्म की विशिष्ट साधना करते-करते क्रमशः 'युगप्रधान' पद पर आसीन हुए। इसके अतिरिक्त उन्होंने धनेश्वर को, जिनका नाम जिनभद्र भी था, तथा हरिभद्र को, सूरि पद, धर्मदेव को उपाध्याय पद और सहदेव को गणि पद दिया। धर्मदेव और सहदेव दोनों भाई थे। उपाध्याय धर्मदेव ने हरिसिंह, सहदेव—इन दोनों भाईयों को और सोमचन्द्र को अपना शिष्य बनाया। गणि सहदेव ने अशोकचन्द्र को अपना शिष्य बनाया जो गुरु का अध्ययनशील व प्रिय शिष्य था। उसे जिनचन्द्र सूरि ने समुचित शिक्षित करके आचार्य पद पर आरूढ़ किया। इन्होंने अपने स्थान पर आचार्य हरिसिंह को स्थापित किया। प्रसन्नचन्द्र और देवभद्रसूरि उपाध्याय सुमति के शिष्य थे।[१]

इस सम्बन्ध में पुरातत्वाचार्य मुनि जिनविजय के अनुसार जिनेश्वर एक भाग्यशाली पुरुष थे। इनकी यशोरेखा एवं भाग्यरेखा बड़ी उत्कृष्ट थी। इससे इनको ऐसे-ऐसे शिष्य और प्रशिष्य रूप महान सन्ततिरत्न प्राप्त हुए जिनके पाण्डित्य और चारित्र्य ने इनके गौरव को दिगन्त व्यापी और कल्पान्त स्थायी बना दिया।[२] अनेक प्रभावशाली और प्रतिभाशील व्यक्तियों ने उनके पास यति दीक्षा लेकर उनके सुविहित शिष्य कहलाने का गौरव प्राप्त किया। उनकी शिष्य-संतति बहुत बढ़ी और वह अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में फैली। उसमें

---

१ युगप्रधानाचार्य गुर्वावली।

२ मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ४

बड़े-बड़े विद्वान्, क्रियानिष्ठ और गुणगरिष्ठ आचार्य, उपाध्यायादि समर्थ साधु पुरुष हुए।[1]

कृतित्व

जब हम जिनेश्वर के कृतित्व—यश की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि साहित्य-संसार को भी उनकी महान देन रही है। उनके द्वारा लिखित साहित्य में से अब तक निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हो पाये हैं—

(१) अष्टक प्रकरण वृत्ति, रचनाकाल सम्वत् १०८०, रचना स्थल जवालिपुर/जालौर, ग्रन्थ परिमाण ३३७४ श्लोक, प्रकाशित। इसे हरिभद्रीया अष्ट प्रकरण वृत्ति भी कहते हैं। वस्तुतः यह आचार्य हरिभद्रसूरि कृत अष्टप्रकरण की व्याख्या है।

(२) चैत्यवन्दनक, रचनाकाल संवत् १०९६, रचना स्थल जालौर, पत्र ३३, टीका का पद्य-परिमाण १०० पद्य हैं। थाहरू भंडार में उपलब्ध है।

(३) कथा-कोष प्रकरण स्वोपज्ञ वृत्तिसह, रचना काल संवत् ११०८, रचना स्थल डिण्डियांणा (डीडवाना), ग्रन्थ परिमाण ५००० श्लोक। सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित।

(४) पंचलिंगी प्रकरण, गाथा १०१, आचार्य जिनपतिसूरि ने इस ग्रन्थ पर भी वृत्ति लिखी है, जो कि जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार से प्रकाशित है।

(५) लीलावती कथा, इसे 'निव्वाणलीलावई' नाम भी दिया गया है। रचनास्थल आशापल्ली। ग्रन्थ प्राकृत पद्यों में रचित है। इस ग्रन्थ को आधार बनाकर आचार्य जिनरत्नसूरि ने ५३५० श्लोक-प्रमाण

---

[1] मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रंथ।

संस्कृत में काव्य रचा। लेखक ने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर जिनेश्वर-सूरि 'निव्वाणलीलावई' कृति की अभ्यर्थना की है।[1]

(६) षट् स्थान प्रकरण, रचना काल एवं रचना-स्थल अज्ञात, श्लोक-प्रमाण १०३, प्रकाशित। इस ग्रन्थ पर अभयदेवसूरि ने १६३८ श्लोक परिमाण भाष्य रचा एवं थारापद्रगच्छीय शान्तिसूरि ने टीका रचना की।

(७) "प्रमालक्ष्म" वृत्ति सह, मूल पद्य ४०५, ग्रन्थाग्र-परिमाण चार हजार।

(८) सर्व तीर्थ-महर्षि कुलक, २६ गाथा।

(९) वीर चरित्र।

(१०) छन्दोनुशासन, जैसलमेर ज्ञानभंडार में पाण्डुलिपि उपलब्ध।

उक्त ग्रंथों में 'लीलावती कथा' साहित्य-संसार की एक उपलब्धि मानी जाती है। इसका पद-लालित्य प्राकृत-साहित्य की थाती है। श्लेषादि विविध अलंकारों के उपयोग के कारण जिनेश्वर का कवित्व मुखरित हुआ है। इनके पदलालित्य आदि गुणों की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में की गई है। 'कथानक-कोश' में जिनेश्वरसूरि ने स्तरीय कथा-शैली में उपदेशपरक चालीस कथाएँ निबद्ध की हैं। 'पंचलिंगी प्रकरण' एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ है। इसमें मुख्यतः सम्यक्त्व की चर्चा की गई है। 'प्रमालक्ष्म' इनका सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैन दार्शनिक ग्रन्थों में इसका स्थान स्याद्वादमंजरी से भी ऊँचा है। इसमें प्रमाण और तर्क पर आधारित वाद-प्रक्रिया का गहन ऊहापोह हुआ है।

स्वर्गारोहण

आचार्य जिनेश्वरसूरि का स्वर्गारोहण किस समय और किस स्थल पर हुआ था यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, किन्तु महो-

---

[1] द्रष्टव्य : जिनरत्नकोश, पृष्ठ ३३८

पाध्याय विनयसागर ने जिनेश्वरसूरि की रचनाओं एवं परवर्ती विद्वानों की रचनाओं के आधार पर बताया है कि जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास संवत् ११०८ से ११२० के मध्य हुआ होगा। उन्होंने "वल्लभ भारती" में लिखा है कि आपकी सं० ११०८ में रचित कथाकोष प्रकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति प्राप्त है। अतः इसके बाद आप इस नश्वर शरीर को छोड़ चुके हों, तथा आचार्य अभयदेव स्थानांग सूत्र की वृत्ति सं० ११२० में पूर्ण की है, उसमें विद्यमान, राज्य इत्यादि शब्दों का प्रयोग न होने से संवत् ११२० के पूर्व ही जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास हो चुका था—मान सकते हैं।

समय-संकेत

आचार्य जिनेश्वरसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शदी है। संवतोल्लेख के साथ उनकी प्रथम कृति अष्ट प्रकरण वृत्ति है, जिसका रचना काल ११०८ है। विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संवत् १०८० में वे किशोरावस्था को पार कर चुके थे। आचार्य वर्धमानसूरि से जब जिनेश्वर की भेंट हुई, तब वे युवक थे। वर्धमान की शिष्यता स्वीकार कर शास्त्रीय अध्ययन में विशेष प्रगति प्राप्त की। तत्पश्चात् लगभग वि०सं० १०८०में शास्त्रार्थ विजयी बने। इस समय उनकी आयु २०-२५ वर्ष से अधिक की ही होगी। अतः यह कहा जा सकता है कि वि० सं० १०६० से पूर्व जिनेश्वर का जन्म हुआ और वि० सं० ११०८ के बाद वि० सं० ११२० के मध्य स्वर्गारोहण हुआ।

महावैयाकरण आचार्य बुद्धिसागरसूरि

आचार्य बुद्धिसागरसूरि व्याकरण-क्षेत्र के अनन्य विद्वान थे। श्वेताम्बर आचार्यों में उपलब्ध सर्व प्रथम व्याकरण-ग्रन्थ की रचना करने वाले यही आचार्य हैं। खरतरगच्छ के प्रादुर्भाव में इनका एक

स्वर सहयोग रहा। ये आचार्य जिनेश्वर के अनुज थे, किन्तु व्याकरण-क्षेत्र में इनकी प्रतिभा अनुपमेय रही। सचमुच, ये बुद्धिनिधान थे।

जीवन-वृत्त

प्रभावक चरित के अनुसार आप कृष्ण नामक ब्राह्मण के पुत्र थे, और इनका जन्म-नाम श्रीपति था। इनके भाई का नाम श्रीधर था। यही दोनों भाई भविष्य में दीक्षित होकर श्रीपति बुद्धिसागर के नाम से एवं श्रीधर जिनेश्वर के नाम से प्रख्यात् हुए। बुद्धिसागर के गुरु का नाम वर्धमानसूरि था। इनकी स्मरण शक्ति शैशव काल से ही कुशाग्र थी। प्रभावक-चरितकार के अनुसार तो आचार्य जिनेश्वर एवं आचार्य बुद्धिसागर दोनों ही आचार्य अणहिलपुर पत्तन गये थे और उन्होंने चैत्यवासियों पर विजय प्राप्त की। अतः बुद्धिसागर जिनेश्वर जैसे ही प्रखर विद्वान, तेजस्वी और धर्मनिष्ठ थे। प्रभावक चरित के उल्लेखानुसार तो बुद्धिसागरसूरि भी जिनेश्वरसूरि के साथ गये थे और जब वे गये थे तब दोनों आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे। जबकि उपाध्याय जिनपाल ने लिखा है कि अणहिलपुर पत्तन के वाद-विवाद में जीतने के पश्चात् बुद्धिसागर को आचार्य पद प्रदान किया गया और उसी समय उनकी बहिन आर्या कल्याणमति को "महत्तरा" पद दिया गया।

साहित्य

आचार्य बुद्धिसागरसूरि एक उद्भट विद्वान् थे। साहित्य-लेखन उनके जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति थी। आचार्य वर्धमान-सूरि रचित 'मनोरमाकहा' की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि बुद्धिसागर-सूरि एवं उनके अग्रज जिनेश्वरसूरि ने व्याकरण, छन्द, काव्य, निघण्टु, नाटक, कथा, प्रबन्ध इत्यादि विषयक ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु अभी तक एतद् विषयक ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो पाये हैं। जिनेश्वर के तो

फिर भी कुछेक ग्रन्थ उपलब्ध हो गये हैं, किन्तु बुद्धिसागरसूरि का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध हो पाया है—पंचग्रन्थी।

'पंचग्रन्थी' संस्कृत-व्याकरण का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। श्वेताम्बर आचार्यों में जिन विद्वानों द्वारा रचित व्याकरण-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उनमें 'पंचलिंगी-व्याकरण' सर्वप्रथम है। इसका दूसरा नाम बुद्धि-सागर-व्याकरण' और 'शब्दलक्ष्म' है। इसकी रचना जावालिपुर में वि० सं० १०८० में हुई—

श्री विक्रमादित्यनरेन्द्रकालात् साशीतिके याति समासहस्रे।
सश्रीकजावालिपुरे तदाद्यं दृब्धं मया सप्तसहस्रकल्पम्।

यह ग्रन्थ गद्य और पद्यमय है, जिसका श्लोक-प्रमाण ७००० है। धातुपाठ, सूत्रपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र पद्यबद्ध हैं। इसकी रचना अनेक व्याकरण-ग्रन्थों के आधार पर की गई है।[१]

आचार्य बुद्धिसागरसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ का रचना-उद्देश्य बताते हुए लिखा है कि ब्राह्मणों ने जैनों पर आक्षेप किया कि जैन लोग पर-ग्रन्थोपजीवी हैं। उनमें शब्दलक्ष्म और प्रमालक्ष्म है ही कहाँ? इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए बुद्धिसागर ने इस महा व्याकरण ग्रन्थ की रचना की।[२]

इस व्याकरण का उल्लेख सं० १०९५ में धनेश्वरसूरि रचित सुर-

---

१ श्री बुद्धिसागराचार्यैः पाणिनि-चन्द्र०-जैनेन्द्र-विश्रान्त-दुर्गटीकामवलोक्य वृत्तबन्धैः। धातुसूत्र-गणोणादिवृत्त बन्धैः कृतं व्याकरणं संस्कृत शब्द प्राकृत शब्द सिद्धये।—प्रमालक्ष्मप्रान्ते।

२ तैरवधीरिते यत् तु प्रवृत्तिराबयोरिह।
तत्र दुर्जनवाक्यानि प्रवृत्तेः सन्निबन्धनम्॥
शब्द लक्ष्म-प्रमालक्ष्म यदेतेषां न विद्यते।
नादिमन्तस्ततो ह्येते पर लक्ष्मोप जीविनः॥

प्रमालक्ष्म, प्रान्ते (४०३-४०४)

सुन्दरी कथा की प्रशस्ति में आता है। इसके सिवाय सं० ११२० में अभयदेवसूरिकृत पञ्चाशक-वृत्ति (प्रशस्ति श्लो० ३) में, सं० ११३६ में गुणचंद्र रचित महावीर चरित (प्राकृत-प्रस्ताव ८, श्लो० ५३) में, जिनदत्तसूरि-रचित गणधरसार्द्धशतक (पद्य ६६) में पद्मप्रभ कृत कुन्थुनाथ चरित और प्रभावक चरित (अभयदेवसूरि चरित) में भी इस ग्रन्थ का नामोल्लेख आता है। इस व्याकरण की हस्तलिखित प्रति जैसलमेर ज्ञान-भंडार में है। प्रति अत्यन्त अशुद्ध है।[1]

बुद्धिसागर की एक अन्य कृति 'छन्दः शास्त्र' का भी उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं लगा है। आचार्य गुणचन्द्रसूरि ने वि० सं० ११३६ में 'महावीर चरिय' की प्रशस्ति में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

समय-संकेत

आचार्य बुद्धिसागरसूरि विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। ये आचार्य जिनेश्वर के छोटे भाई थे। इनका जन्म-दिवस या स्वर्गवास दिवस अज्ञात हैं। उन्होंने पंचलिंगी-व्याकरण ग्रन्थ की रचना सं० १०८० में की थी। इनका समय वि० सं० १०६० से १११० तक माना जा सकता है।

महत्तरा कल्याणमति

खरतरगच्छ का साध्वी-समुदाय अत्यन्त विस्तृत रहा, किन्तु उसके बारे में विशेष ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त नहीं होते। खरतरगच्छ की प्रथम सर्वोपरि साध्वी के रूप में कल्याणमति का नाम प्राप्त होता है।

जीवन-वृत्त

साध्वी कल्याणमति खरतरगच्छ की वह साध्वी हैं, जो इस गच्छ की प्रथम महत्तरा बनी। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार

---

[1] जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-५, पृष्ठ २२

कल्याणमति को महत्तरापद आचार्य वर्धमानसूरि ने प्रदान किया था। इस पदारोहण के बाद ही आचार्य को प्रतिभा सम्पन्न शिष्य मिले थे।[१]

महत्तरा साध्वी कल्याणमति आचार्य जिनेश्वर एवं बुद्धिसागर की बहिन थी। जिनेश्वर एवं बुद्धिसागर जन्मजात ब्राह्मण थे, अतः कल्याणमतिभी निश्चित रूप से ब्राह्मण कुल में जन्मी थी। बन्धुओं द्वारा अपनाये गये पथ को समुचित जानकर कल्याणमति ने भी प्रव्रज्या स्वीकार कर ली थी। ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय में वैशिष्ट्य प्राप्त कर महत्तरा-पदारूढ़ हुई। इसके अतिरिक्त महत्तरा के जीवन-वृत्त के बारे में अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं।

समय-संकेत

आचार्य जिनेश्वर एवं बुद्धिसागरसूरि के समकालीन हुई महत्तरा कल्याणमति।

महाकवि धनपाल

खरतरगच्छ में जहाँ श्रमणमण्डल में जिनेश्वरसूरि प्रथम साहित्य-सर्जक हुए, वहाँ श्रावक-मण्डल में धनपाल को प्रथम साहित्य-सर्जक कहा जा सकता है। धनपाल एक अध्ययनशील, विद्वान, कथाकार, कवि और मनीषी थे। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं पर इनका वर्चस्व था। प्राकृत कोश की रचना करने वाले जैन गृहस्थ लेखकों में इनका स्थान अग्रणी है।

जीवन-वृत्त

प्रभावक चरित के महेन्द्रसूरि प्रबन्ध, प्रबन्ध-चिन्तामणि के धनपाल प्रबन्ध, रत्नमन्दिरगणि के भोजप्रबन्ध में धनपाल के सम्बन्ध में कई आख्यान दिये गये हैं।

---

१ द्रष्टव्य : युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृष्ठ ५

धनपाल के पिता का नाम सर्वदेव और पितामह का देवर्षि था। पितामह देवर्षि मध्यदेश के सांकश्य (संकिस, जिला फर्रुखाबाद) नामक गाँव के मूल निवासी थे, किन्तु उज्जयिनी में आ बसे। धनपाल के छोटे भाई का नाम शोभन था और बहिन का नाम सुन्दरी था। इनमें शोभन तो प्रव्रजित हो गया। धनपाल को अपनी बहिन से काफी प्रेम था और उन्होंने उसके लिए 'तिलक मंजरी' ग्रन्थ का निर्माण किया।

महाकवि धनपाल जन्म जात ब्राह्मण थे। यह एक संयोग ही है, खरतरगच्छ का वीजारोपण करने में ब्राह्मण वर्ग का अप्रतिम अनुदान रहा है। धनपाल के छोटे भाई शोभन ने आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि से प्रव्रज्या ग्रहण की थी। वास्तव में शोभन मुनि के कारण ही महाकवि धनपाल जैन धर्म के प्रति श्रद्धान्वित हुए और खरतरगच्छ के एकनिष्ठ अनुयायी बने। धनपाल शोभन मुनि तथा उनके गुरु को सन्मान की दृष्टि से देखता था। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार धनपाल ने शोभन मुनि की प्रेरणा से जैन धर्म तथा उसके तत्त्व-दर्शन का गहन अध्ययन किया था। जैन-दर्शन के प्रति विशेष श्रद्धा हो जाने के कारण धनपाल ने जैनत्व अंगीकार किया। भाई के प्रव्रजित होने से वे सदा खरतरगच्छ के प्रति निष्ठावान बने रहे। आपने 'श्रावक-विधि' ग्रन्थ में जिस प्रकार से श्रावक की दिनचर्या और विधि-विधानों का विवेचन किया है वह आद्योपान्त खरतरगच्छ से प्रभावित है। इन्होंने महाकवि की हैसियत से अनेक ग्रन्थों का सृजन किया।

धनपाल धारानगरी के महाराजा मुंजराज की राजसभा के सम्मान्य पंडित थे। सारी राजसभा उन्हें 'सरस्वती' कहती थी। भोजराज ने धनपाल को राजसभा में 'कूर्चाल सरस्वती' और 'सिद्ध-सारस्वत कवीश्वर' जैसी मानक उपाधियाँ देकर सम्मानित किया। 'सत्यपुरीयमंडन-महावीरोत्साह' में किये गये उल्लेखों के अनुसार भोजराज और धनपाल की काफी पटती थी, किन्तु बाद में दोनों में वैमनस्य हो गया। भोजराज ने 'तिलक-मंजरी' ग्रन्थ कुछ बदलने का

आदेश दिया। धनपाल ने वैसा न किया, तो भोजराज ने ग्रन्थ जला दिया इससे धनपाल के स्वाभिमान को आघात लगा और धनपाल साचोर में आकर बस गये।

परवर्ती कवियों एवं विद्वानों ने महाकवि धनपाल का अपने ग्रन्थों में बड़े ही आदर के साथ उल्लेख किया है। जैसे—आचार्य चन्द्रसूरि ने सनत्कुमार चरित के प्रारम्भ में, आचार्य महेन्द्रसूरि ने 'अनेकार्थ-संग्रह-टीका' के प्रारम्भ में।

साहित्य

धनपाल ने अनेक रचनाएँ लिखी जिनमें तिलकमंजरी नामक रचना सर्वोत्तम है। यह रचना कथा-साहित्य से सम्बन्धित है। विद्वानों ने तिलकमंजरी को कथा साहित्य का विशिष्ट रत्न बताया है और सम्प्रति यह कतिपय विश्व-विद्यालयों में पाठ्यक्रम की पुस्तिकाओं में स्वीकृत है।

महाकवि धनपाल द्वारा रचित ग्रन्थ इस प्रकार है—

(१) पाइयलच्छी नाममाला (प्राकृत-कोश)

(२) तिलक मंजरी (संस्कृत-गद्य)

(३) श्रावक विधि (प्राकृत-पद्य)

(४) ऋषभपंचाशिका (प्राकृत-पद्य)

(५) महावीर स्तुति (प्राकृत-पद्य)

(६) सत्यपुरीय मंडन-महावीरोत्साह (अपभ्रंश-पद्य)

(७) शोभनस्तुति-टीका (संस्कृत-गद्य)

पंडित अम्बालाल प्रे० शाह के शोध के अनुसार धनपाल ने अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के लिए 'पाइयलच्छी नाममाला' कोश-ग्रन्थ की रचना वि० सं० १०२९ में की है। इसमें की २७९ गाथाएँ आर्या छन्द में हैं। यह कोश एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ प्राकृत-शब्दों के पर्याय दिये गये हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' कोश के प्रारम्भ में 'व्युत्पत्तिर्धनपालतः' ऐसा उल्लेख कर धनपाल के कोशग्रन्थ को प्रमाण-भूत बताया है। हेमचन्द्ररचित 'देशी नाम माला' (रयणावली) में भी धनपाल का उल्लेख है। 'शार्ङ्गधर-पद्धति' में धनपाल के कोश-विषयक पद्यों के उद्धरण मिलते हैं और एक टिप्पणी में धनपालरचित 'नाममाला' के १८०० श्लोक-परिमाण होने का उल्लेख किया गया है। इन सब प्रमाणों से मालूम होता है कि धनपाल ने संस्कृत और देशी शब्द कोश-ग्रन्थों की रचना की होगी, जो आज उपलब्ध नहीं है। यह ग्रन्थ बुह्लर द्वारा सम्पादित होकर सन् १८७९ में प्रकाशित हुआ है।[१]

महाकवि धनपाल की तिलक मंजरी नामक गद्य आख्यायिका साहित्य जगत् की एक महान् उपलब्धि मानी जाती है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में धारा के परमार राजाओं की वैरीसिंह से लेकर भोज तक की वंशावली दी है जिसका ऐतिहासिक महत्व भी है। इस ग्रन्थ की रचना राजा भोज के जैन आगमों में निबद्ध कथा सुनने के कुतुहल को मिटाने के लिए की गई।

तिलक मंजरी जैन साहित्य का एक उच्चस्तरीय गद्य काव्य माना जाता है। इसका नाम नायिका के नाम से रखा गया है और इसकी रचना शैली महाकवि बाण की कादम्बरी की शैली का अनुकरण करती है। समीक्षात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से कादम्बरी और तिलक मंजरी अपने-अपने समय की अद्वितीय रचना है। इनकी कथा-वस्तु में काफी साम्य है। कथानक से जुड़े नायक, नायिका, उपनायिका उनके हावभाव, उनके जीवन की गतिविधियां सब में सादृश्यता के चिह्न देखे जा सकते हैं। शैली की दृष्टि से भी दोनों काव्यों में समानता है। शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के द्वारा घटना तथा वर्णन को बोझिल रखा गया है। परिसंख्यालंकार और विरोधाभाषालंकार का बाण

१ जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-५, पृष्ठ ७८-७९

और धनपाल ने खुलकर प्रयोग किया है। कथा और शैली में समानता होते हुए भी तिलकमंजरी को कादम्बरी का उपजीव्य नहीं कहा जा सकता।

तिलकमंजरी में ऐसी कई विशेषताएँ हैं जो उसको अन्य गद्य काव्यों की अपेक्षा श्रेष्ठता दिलाती है। १. जैसे इसके गद्य अधिक लम्बे और अनेक पदों से निर्मित समास की बहुलता से रहित हैं। २. इसमें श्लेषालंकार की बहुलता नहीं है। ३. विशेषणों की भरमार नहीं है अतः कथा-आस्वादन में चमत्कृति है। ४. इसमें श्रुत्यनुप्रास द्वारा श्रवण-मधुरता उत्पन्न की गई है। यह ग्रन्थ काव्यमाला सिरीज, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सं० १९३८ में प्रकाशित हुआ।

धनपाल की 'ऋषभपंचाशिका' स्तोत्र-साहित्य की एक प्रमुख कृति मानी जाती है। इसमें भगवान् ऋषभदेव की भक्तिभावपूर्वक काव्यात्मक स्तुति की गई है। इसी प्रकार उनकी अन्य कृतियाँ भी महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं।

समय-संकेत

महाकवि धनपाल का समय विक्रम की ग्यारहवीं शदी मान्य है। ये आचार्य जिनेश्वर के समकालीन विद्वान् थे।

महाप्रज्ञ आचार्य जिनचन्द्रसूरि

'संवेगरंगशाला' के रचनाकार आचार्य जिनचन्द्रसूरि एक विश्रुत व्यक्तित्व एवं उदात्त चिन्तक थे। जैन धर्म के प्रभावापन्न आचार्यों में ये एक हैं। अर्हन्नीति के उन्नयन में इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।

जीवन-वृत्त

आचार्य जिनचन्द्रसूरि का जीवन-वृत्त अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया है। प्राप्त शोध-सन्दर्भों में मात्र इनकी साहित्यिक सेवाओं का उल्लेख किया गया है। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार ये

आचार्य जिनेश्वरसूरि के पट्ट पर आसीन हुए। इन्हें सभी विद्वानों ने महागीतार्थ आचार्य के रूप में स्वीकार किया है। इन्हें अष्टादश नाममाला आदि ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। सर्वशास्त्रों में इनकी पारंगतता थी।[1]

साहित्य

आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने सं० ११२५ में संवेगरंगशाला जैसे महान ग्रन्थ की रचना की। जिसका श्लोक-परिमाण १८००० है। यह ग्रन्थ भव्य जीवों के लिए मोक्ष महल का सोपान है। इन्होंने जावालिपुर/जालौर में श्रावकों की सभा में चीवंदण भावस्तव इत्यादि गाथाओं की व्याख्या करते हुए जो सिद्धान्त-संवाद कहे थे उनका उन्हीं के शिष्य ने लिखकर ३०० श्लोक परिमित दिनचर्या नामक ग्रंथ निबद्ध किया जो श्रावक वर्ग के लिए बहुत उपकारी एवं लाभकारी सिद्ध हुआ।[2] किन्तु यह कृति प्राप्त नहीं हो पायी है। इनके अलावा जिनचन्द्रसूरि द्वारा रचित अन्य कृतियां भी प्राप्त होती हैं। यथा—पंचपरमेष्ठी नमस्कार फलकुलक, क्षपकशिक्षा प्रकरण, जीव-विभक्ति, आराधना पार्श्व स्तोत्र आदि। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विशद् ग्रन्थ संवेगरंगशाला है। इसकी भाषा प्राकृत है। ग्रन्थ १००५३/१००५० गाथाओं में निबद्ध है। इसका रचनाकाल वि० सं० ११२५ है। यह ग्रन्थ उन्होंने अपने लघु गुरु-भाई आचार्य अभयदेव की प्रार्थना से निबद्ध किया था। इस ग्रन्थ को साहित्य-संसार में अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

ऊपर हमने आचार्य जिनचन्द्र के कृतित्व के बारे में जो जानकारी दी है, वह परवर्ती विद्वानों द्वारा किये गये उल्लेखों के आधार पर है। परवर्ती विद्वानों ने आचार्य जिनचन्द्र की प्रशंसा करते हुए उनकी

---

[1] युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृष्ठ ६

[2] खरतरगच्छ पट्टावली, पत्र २

रचनाओं की भी प्रशंसा की है। उदाहरणतः संवेगरंगशाला के सम्बन्ध में लिखा है कि भुवन में श्रेष्ठ कीर्ति पानेवाले अभयदेवसूरि हुए। जिन्होंने कुबोध रूप महारिपु द्वारा विनष्ट किये जाते नरपति जैसे श्रुतधर्म का दृढ़त्व अंगों की कृतियों द्वारा रक्षण किया। उनकी अभ्यर्थना के वश से जिनचन्द्र मुनिवर ने मालाकार की तरह मूलश्रुत रूप उद्यान से श्रेष्ठ वचन कुसुमों का चयन कर अपने मति गुण से दृढ़ गुंथन करके विविध अर्थ-सौरभयुक्त यह आराधना माला रची है।[१]

आचार्य जिनदत्तसूरि ने स्वयं संवेगरंगशाला की प्रशंसा की। उन्होंने लिखा है कि जिन्होंने (जिनचन्द्रसूरि ने) रागादि शत्रुओं से भयभीत होकर भव्यजनों के रक्षण-निमित्त विशाल किले जैसी संवेग-रंगशाला की रचना की।[२]

आचार्य जिनपतिसूरि ने संवेगरंगशाला का स्मरण किया है। उनके अनुसार जिन्होंने अर्थात् जिनचन्द्रसूरि ने कलिकाल से जिनका नृत्य लुप्त हो गया था, वैसे मनुष्यों के संवेग को नृत्य कराने के लिए विशाल मनोहर संवेगरंगशाला रची।[३]

---

१ सिर अभयदेव सूरि पत्तकिसती परं भवणे।
जेग कुबोह महारिअ बिहम्ममाणस्सनरव हस्सेव ॥
सुयधम्मरस दृढ़त्तं, निव्वत्तियमं गवित्तीहिं।
तसमत्यणवसओ सिर जिण चंदमुनिवरेइमाण ॥
मालागारेण व उच्चिअणवरवयण कुसुमाह।
मूलसुय-काणणाओ गुंथित्ता नियभई गुणेण दंढ ॥
—संवेगरंगशाला १००४१-३४

२ संवेगरंगशाला विसालसालोवमा कयाजेण।
रागाइवेरिमयमीय-भव्यजणरक्खाणनिमित्तं।
—गणधर सार्धशतक

३ नतेपितुसंवेगंपुनर्नृणां, लुप्तनृत्यमिवकालिना।
संवेगरंगशाला जैन विशाला व्यरचि रूचिर ॥
—पंचलिंगी विवरण

रिक्त संखपुर—जैन मंदिर की एक भित्ति में सं० १३२६ में अंकित एक शिलालेख में लिखा है कि जिनकी (जिनचन्द्रसूरि) कृति संवेगरंगशाला सुगन्धित कल्पवृक्ष की कुसुममाला जैसी, पवित्र सरस गंगानदी जैसी और उनकी कीर्ति जैसी जयवंती है।[1]

उपाध्याय चन्द्रतिलक के अनुसार सूरिराज जिनचन्द्र ने हम विशाल श्रोता लोगों के लिए अमृत प्रपा जैसी 'संवेगरंगशाला' कथा की और बृहन्नमस्कारफल तथा संवेग की विवृद्धि के लिए 'क्षपक शिक्षा' की रचना की थी।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने विविध धार्मिक साहित्य की संरचना की थी जिनमें संवेगरंगशाला/आराधना नाममाला ग्रन्थ विशिष्ट हैं।

प्रतिबोध

आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने अपने प्रभाव से अनेक लोगों को जैन बनाया। यति श्रीपाल ने लिखा है कि आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने श्रीमाल और महत्तियाण जातियों को पुनः प्रतिबोध देकर जैन बनाया।[3]

समय-संकेत

जिनचन्द्र का समय ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्ध से बारहवीं शदी के पूर्वार्ध तक रहा है। इनकी लिखी 'संवेगरंगशाला' कृति सं ११२५ की है। उसी के आधार पर यह समय-संकेत किया गया है।

---

१ संवेगरंगशाला सुरभिः सुरविटपि-कुसुममालेव।
शुचिसरसा सरसरिदिव यस्य कृतिर्जयति कीर्तिरिव॥ —बीजापुर-वृतान्त

२ तस्याभूतां शिष्यो, तत्प्रथमः सूरिराज जिनचन्द्रः।
संवेगरंगशालां, व्यधितकथां यो रसविशालाम्॥
वृहन्नमस्कारफलंनंदोत्तुलोकसुधाप्रपाम्।
चक्रे क्षपकशिक्षां च, यः संवेगविवृद्धये॥ —अभयकुमार चरित काव्य

३ जैन शिक्षा प्रकरण, उद्धृत-ओसवाल वंश, पृष्ठ ३८

शासन-धन आचार्य धनेश्वरसूरि

आचार्य धनेश्वरसूरि आचार्य जिनेश्वरसूरि के प्रमुख विद्वान शिष्यों में एक थे।

जीवन-वृत्त :—धनेश्वर के जीवन-वृत्त के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। खरतरगच्छीय साहित्य में इन्हें आचार्य जिनेश्वर-सूरि के प्रमुख शिष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इनका अपर नाम जिनभद्रसूरि भी था। खरतरगच्छ में पन्द्रहवीं शदी में एक और जिनभद्रसूरि हुए हैं, जिन्होंने अनेक ज्ञानभण्डारों की स्थापना की थी।

साहित्य :—आचार्य धनेश्वरसूरि द्वारा साहित्य-सर्जन हुआ। जिनरत्नकोश के अनुसार धनेश्वरसूरि ने हरिभद्रसूरि चरित लिखा था। आचार्य हरिभद्रसूरि के चरित पर जो स्वतन्त्र रचनाएँ लिखी गईं, उनमें यह सर्वोपरि है। इसका सम्पादन पं० हरगोविन्ददास ने वाराणसी में किया।[1]

धनेश्वर की एक प्रसिद्ध कृति है सुरसुन्दरी चरिय। यह प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसमें राजकुमार मकरकेतु तथा राजकुमारी सुर-सुन्दरी के प्रेम का वर्णन है। इसमें १६ परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद में २५० गाथाएँ हैं। इसमें कुल ४००१ गाथाएँ हैं। ग्रन्थान्त में १३ गाथाओं की प्रशस्ति है, जिसमें धनेश्वरसूरि ने स्वयं को आचार्य जिनेश्वरसूरि का शिष्य माना है। यह चरित चड्डावल्लिपुरी (चन्द्रावती) में सं० १०९५ भाद्रपद कृष्ण द्वितीया, गुरुवार, धनिष्ठा नक्षत्र में सम्पूर्ण हुआ।[2]

---

[1] जिनरत्नकोश, पृ० ४५६

[2] तेसिं सीसवरो धणेसर मुनी एयं कहं पायडं।
चड्डावल्लिपुरी ठिओ स गुरुणो आणाए पाठंतरा॥
कासी विक्कम वच्छरम्मिय गए बाणंक सुन्नोडुपे।
मासे भद्दवए गुरुम्मि कसिणे बीया धणिट्ठा दिने॥
—सुरसुन्दरी चरिय, प्रशस्ति

समय-संकेत :—धनेश्वर की संवतोल्लेख युक्त कृति वि० सं० १०६५ की प्राप्त हुई अतः अनुमानतः इनका समय विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शदी है।

अमेय मेधा-सम्पन्न आचार्य अभयदेवसूरि

जैनाचार्यों में अभयदेवसूरि नामक अनेक आचार्य हुए हैं। अभयदेवसूरि नाम के पहले आचार्य विक्रम की बारहवीं शताब्दी में राजगच्छीय प्रद्युम्नसूरि के शिष्य हुए, जिनकी प्रसिद्ध कृति महार्णव-टीका है। इसी नाम के दूसरे आचार्य नवांगी-टीकाकार हैं। ये भी विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुए हैं। इसी नाम के तीसरे आचार्य हर्षपुरीगच्छ के जयसिंहसूरि के शिष्य हुए हैं। इनके लिए मलधारी उपमा व्यवहृत होती है। इनका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध मान्य है। इस प्रकार तीनों ही अभयदेव ग्यारहवें-बारहवें विक्रमाब्द में हुए हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हम उन अभयदेव की चर्चा करेंगे, जो नवांगी टीकाकार के रूप में विख्यात् हैं। आगमिक व्याख्या-ग्रन्थों में अंग-आगम साहित्य के नव अंगों पर लिखित इनकी टीकाएँ सर्वोपरि हैं। वे आगम-साहित्य की अमूल्य थाती हैं। खरतरगच्छ को इस बात का गौरव है कि उसने ऐसी अप्रतिम एवं लब्ध-प्रतिष्ठ प्रतिभा विश्व को प्रदान की। अब तक के समस्त आगम-व्याख्याकारों के लिए आचार्य अभयदेव एक आदर्श रहे, मार्गदर्शक रहे। सचमुच, आचार्य अभयदेवसूरि आगम-जगत के प्रकाश-स्तम्भ हैं।

जैनाचार्यों में जिन आचार्यों को प्रमाणभूत एवं तथ्यवादी माना जाता है, उनमें अभयदेव का नाम प्रमुख है। वास्तव में ऐसे आगम-व्याख्याता सारस्वत महापुरुष से खरतरगच्छ की आचार्य-परम्परा

अत्यन्त गौरवशाली हुई है। यदि आचार्य अभयदेव को 'जैनागम-प्रभाकर' कहा जाये तो उनके व्यक्तित्व के लिए सही उपमा होगी।

अभयदेव का व्यक्तित्व 'श्रममेव जयते' उक्ति को चरितार्थ करता है। इनकी साम्प्रदायिक उदारता, तितिक्षा, स्वाद-विजयिता एवं सारस्वतता दूसरों के लिए आदर्शभूत रही।

यद्यपि आचार्य जिनेश्वरसूरि के परम्परा में ये तृतीय पट्टधर हुए, किन्तु ख्याति गरिमा और महिमा की दृष्टि से अभयदेव अद्वितीय पट्टधर हुए।

आचार्य अभयदेव न केवल अपने समकालीन विद्वत् जगत में प्रतिष्ठा प्राप्त थे, अपितु परवर्ती काल में हुए बहुत से आचार्यों ने निष्पक्ष भाव से उनके प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। आगम-निगम तर्कन्याय आदि अनेक विषयों के वे वेत्ता थे। आपने अनेक साधुओं को अध्यापन करवाकर उद्भट विद्वान बनाया था। प्रसन्नचन्द्रसूरि, वर्धमानसूरि, हरिभद्रसूरि, देवदत्तसूरि प्रभृति आचार्य उन्हीं से अध्यापित थे।[1] वे न केवल एक प्रतिष्ठित आचार्य थे, अपितु एक दार्शनिक, विचारक, कवि, साहित्यकार एवं टीकाकार भी थे। आज उनका साहित्य ही उनका वास्तविक परिचय है। परवर्ती विद्वानों ने आचार्य अभयदेव के सम्बन्ध में जो-जो उल्लेख किये हैं, उनमें से भी आपके अनुपमेय व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश पड़ता है। आचार्य अभयदेव का कृतित्व तो अपने आप में स्पष्ट एवं प्रामाणिक है, किन्तु उनका जीवन-वृत्त यत् किंचित विवाद का विषय बना हुआ है।

अभयदेव का गच्छ

आचार्य अभयदेव खरतरगच्छ-प्रवर्तक आचार्य जिनेश्वरसूरि,

---

१ द्रष्टव्य : चित्रकूटीय वीर चैत्य-प्रशस्ति

बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे। इनके प्रगुरु आचार्य वर्धमानसूरि थे। यह तथ्य स्वयं आचार्य अभयदेव ने लिखा है।[1]

उक्त गुरु-परम्परानुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि अभयदेवसूरि खरतरगच्छीय ही थे। वि० सं० १६१७ में उपाध्याय धर्मसागर ने यह आक्षेप लगाया था कि आचार्य अभयदेवसूरि खरतरगच्छीय नहीं थे। उपाध्याय के अनुसार खरतरगच्छ की उत्पत्ति वि० सं० १२०४ में हुई थी। यद्यपि अनेक तपागच्छाचार्यों ने एवं अन्य विद्वानों ने अभयदेवसूरि को निर्विवाद रूप से खरतरगच्छीय ही माना है। उपाध्याय धर्मसागर के उक्त आक्षेपों का निराकरण करने के लिए सं० १६१७ में एक विशाल संगीति का आयोजन किया गया जिसमें तत्कालीन अनेक मूर्धन्य आचार्यों, मुनियों और विद्वानों ने सर्व-सम्मति से यह घोषित किया कि अभयदेवसूरि खरतरगच्छीय थे। इस संगीति में लिए गये निर्णयों का एक पत्र प्राप्त हुआ है, जिसमें निर्णय-कारों के हस्ताक्षर हुए संलग्न है। वह पत्र इस प्रकार है—

स्वस्ति श्री सं० १६१७ वर्षे कार्त्तिक सुदि सप्तमी दिने शुक्रवारे श्री पाटण महानगरे श्री खरतरगच्छ नायक वादि कंदकुदाल भट्टारक श्री जिनचंद्रसूरिजी चउमासि कीधी रह्या हूंता तिवारइ ॠषिमति धर्मसागरे कूड़ी चरचा मांडी जउ श्री अभयदेवसूरि नावांगी वृत्तिकारक श्री स्तंभना पार्श्वनाथ प्रकट कर्ता, ते खरतरगच्छि न हुआ। एहुवी बात सांभली तिवारी श्री जिनचंद्र ए खरतर सूरि, (ए विचारी बात)

---

[1] तच्चन्द्र कुलीन प्रवचन-प्रणीता-प्रतिबद्धविहार हारि चरित-श्रीवर्धमानाभि-धानमुनिपतिपादोपसेविनः प्रमाणादिव्युत्पादन प्रवणप्रकरण प्रबन्ध प्रणयिनः प्रबुद्ध प्रतिबन्ध प्रवक्तृ प्रवीणाप्रतिहत प्रवचनार्थ-प्रधानवाक् प्रसरस्य सुविहित मुनिजनमुख्यस्य श्री जिनेश्वराचार्यस्य तदनुजस्य च व्याकरणादि शास्त्रकर्त्तुः श्री बुद्धिसागराचार्यस्य चरणकमल चञ्चरीककल्पेन श्रीमद-भयदेवसूरि नाम्ना मया…।

—स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति, पृष्ठ ४६६

शंसमस्त दन एकठा कीधा पछइ समस्त दर्शन ने पूछ्यो जे श्री अभय-देवसूरि नवांगीवृत्ति कर्त्ता स्थम्भणइ पार्श्वनाथ प्रकट कर्ता कियइ (किसइ) गच्छइ हुवा ? तिवारि समस्त दर्शन मिली अनइ घणा ग्रन्थ जोइ पछइ (ए बात बचारिनइ) इम कह्या जे श्रीअभयदेवसूरि (नवांगी वृत्ति कारक स्तम्भणइ पार्श्वनाथ प्रकट कारक) खरतरगच्छे हुवा। सही। सत्यं समस्त दर्शन घणा ग्रन्थ जोइ नइ सही कीधी। सही सही।

अत्र साखि भट्टारक कर्मसुन्दरसूरि मतं १

,, ,, सिद्धान्तिया बडगच्छ श्री थिरचंद्रसूरि मतं २

,, ,, जावडिया गच्छे श्री हर्षविनय मतं ३

,, ,, निगमिया तप गच्छे श्री भ० कल्याणरत्नसूरि मतं ४

,, ,, वृहत तपा गच्छे श्री सिद्धसूरि मतं ५

,, ,, विवंदणीक वारेजिया खडखडता तपागच्छे परमाणन्द मतं ६

,, ,, सिद्धान्तिया बड़ गच्छे श्री महीसागरसूरि मतं ७

,, ,, काछेला पुनमिया गच्छे उदयरत्नसूरि मतं ८

,, ,, पीपलिया गच्छे विमलचंद्रसूरि मतं ९

,, ,, त्रांगडिया पुनमिया गच्छे श्री विद्याप्रभसूरि मतं १०

,, ,, ढंढेरिया पुनमिया गच्छे श्री संयमसागरसूरि मतं ११

,, ,, कुतबपुरा तपा गच्छे श्री विनयतिलकसूरि मतं १२

,, ,, बोकडिया गच्छे श्री देवानन्दसूरि मतं १३

,, ,, सिद्धान्तिया गच्छे पन्यास प्रमोदहंस मतं १४

,, ,, पाल्हणपुरा गच्छे वा० विनयकीर्ति मतं १५

,, ,, पाल्हणपुरी साखा तपा गच्छे वा० रंगनिधान मतं १६

,, ,, अंचल गच्छे पण्डित भावरत्न मतं १७

,, ,, सापरिया पुनमिया गच्छे पण्डित उदयराज मतं १८

,, ,, साधु पुनमिया गच्छे वा० नगा मतं १९

अत्र साखि मलधारी गच्छे षण्डित गुणतिलक मतं २०

,, ,, ओसवाल गच्छे पंडित रत्नहर्ष मतं २१

,, ,, प्रवल पर्वीया आंचलिया (आगमिया) पंडित रंयामतं २२

,, ,, चित्रवाल गच्छे वा० क्षेमा मतं २३

,, ,, चिन्तामणिया पाडा वा० गुणमाणिक्य मतं २४

,, ,, आगमिया उ० सुमतिसेखर मतं २५

,, ,, बेगड़ा खरतर पण्डितपद्ममाणिक्य मतं २६ (उ० धर्ममेरुमत)

,, ,, वृहत्खरतर वा० मुनिरत्न मतं २७

,, ,, चित्रवाल जोगीवाडइ पं० राजा मतं (मुनिराज मतं) २८

,, ,, कोरण्टवाल गच्छे चेला हांसा मतं २९

,, ,, विवंदणीक खिरालुआ (चेला मोकल) मतं ३०

,, ,, आगमिया मोकल मतं ३१

,, ,, खरतर उपाध्याय जयलाभ मतं ३२

एवं काती सुदि ४ दिने (काती सुदि ७ शुक्रवारे) सर्व दर्शन मिली (सर्व संग समुदायें) मजलस कीधी। धर्मसागर ऋषि-मति तेडाव्यउ, पुणि धर्मसागर दर्शन मांहि न आव्यउ, बार तीन मजलस करी तेडाव्यो पछइ छिपी रह्यो (ते श्याम मुख करनई) पण नावइ। तिवारइ काती सुदि १३ दिने सर्व दर्शन मिली नइ चर्चायइ खोटो (कूडो झूठउ) जाणी नइ (सर्वथा) निन्हव थाप्यो। जिनदर्शनि बाहिर कीधउ। सही-सही १०८ सर्व दर्शन सम्मत श्री अभयदेव सूरि नवांगीवृत्तिकरता स्थंभणा पार्श्वनाथ प्रकटकर्ता ते खरतर गच्छइ हुवा : पत्तनीय समस्त दर्शन विचारी मत लिखतं।

उपाध्याय धर्मसागर आदि विद्वानों ने जो सं० १२०४ खरतरोत्पत्तिकाल लिखा, 'खरतरगच्छ-उद्भवकाल' के अन्तर्गत हमने इसका निरसन कर दिया है। संभवतः इनकी नीयत यह रही थी कि

आचार्य जिनदत्तसूरि को अभयदेवसूरि से अलग परम्परावाले बताना क्योंकि अभयदेवसूरि सर्वमान्य थे।

जीवन-वृत्त :—आचार्य अभयदेव का जन्म वि० सं० १०७२ में हुआ। वे मालव देश की धारानगरी में जन्मे। उनके पिता श्रेष्ठि महीधर थे और माता धनदेवी थी। उनका अपना नाम अभयकुमार था। वे वैश्य परिवार के थे। प्रभावक चरित के अनुसार उस समय धारानगरी के राजा भोज थे।[1]

अभय बचपन से ही विवेकशील एवं प्रबुद्ध थे। धार्मिक संस्कार उन्हें अपने अभिभावकों से प्राप्त हुए। वि० सं० १०८० में आचार्य जिनेश्वरसूरि और आचार्य बुद्धिसागरसूरि जालोर विहार करते हुए धारानगरी आए। उनके मार्मिक प्रवचनों से अभय आत्यन्तिक प्रभावित हुए। उनका अंग-अंग वैराग्य-रस से भीग गया। माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त कर अभय ने आचार्य जिनेश्वर के पास जैन भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। अभय अमेय मेधा-सम्पन्न थे। उनकी प्रखर बौद्धिक क्षमता ने आगमिक एवं शास्त्रीय ज्ञान बहुत जल्दी ही हृदयंगम कर लिया। प्रत्येक दृष्टि से कसावट करने के बाद आचार्य जिनेश्वरसूरि को ये गच्छ के सुयोग्य मुनि लगे। सं० १०८८ में उन्होंने अभयदेव को आचार्य-पद से विभूषित किया।

प्रभावक चरितकार के अनुसार उन्होंने शास्त्रों एवं सिद्धान्तों का

---

१ अस्ति श्रीमालवो देशः, सद्वृत्तरशालितः।
जम्बूद्वीपाख्यमाकन्दफलं सद्वर्णवृत्तसूः ॥ ४ ॥

तत्रास्ति नगरी धारा, मण्डलाग्रोदित स्थितिः।
मूलं नृपश्रियो दुष्टविग्रहद्रोह शालिनी ॥ ५ ॥

श्रीभोजराजस्तत्रासीद् भूपालः पालितावनिः।
शेषस्येवापरे मूर्ती विश्वोद्धारय यद्भुजौ ॥ ६ ॥

—प्रभावक चरित, पृष्ठ १६१

गहन अध्ययन किया। वे महाक्रियानिष्ठ अभयदेव धर्मसंघ के कमल को विकसित करने के लिए भास्कर रूप थे।

> स त्वावगाढसिद्धान्त, तत्त्वप्रेक्षानुमानतः।
> बभौ महाक्रियानिष्ठः श्रीसङ्घाम्भोजभास्करः ॥[1]

आचार्य अभयदेव महान् सिद्धान्तविद् थे। आगम एवं आगमेतर विषयों का उन्हें तल-स्पर्शी ज्ञान था। उन्होंने आगम-साहित्य पर जो व्याख्या ग्रन्थ लिखे, वे अपने-आप में अनुपमेय हैं। इस सम्बन्ध में प्रभावक चरित में एक घटना का उल्लेख प्राप्त होता है, जो आचार्य वर्धमानसूरि के स्वर्गारोहण के बाद घटी थी—

रात्रि का समय था। आचार्य अभयदेव पत्यपद्रपुर में ध्यानस्थ थे। उनके मन में टीका-रचना के भाव पैदा हुए। इस अन्तःप्रेरणा ने ही उन्हें आगमों पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया। प्रभावक चरित्र, युगप्रधानाचार्य गुर्वावली आदि ग्रन्थों के अनुसार यह प्रेरणा शासनदेवी की थी। प्रभावक चरित में लिखा है कि ध्यान-स्थित अभयदेव के सामने देवी प्रकट हुई और बोली—महामान्य! शीलांकाचार्य तथा कोट्याचार्य कृत टीका-साहित्य में आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग आगम की टीकाएँ उपलब्ध हैं। अन्य टीकाएँ काल के दुष्प्रभाव से नष्ट हो गईं। आप यह क्षति पूर्ति करें, संघ के हितार्थ टीका-रचना प्रारम्भ करें—

> अङ्गद्वयं विनान्येषां कालादुच्छेदमाययुः।
> वृत्तयस्तत्र संघानुग्रहायार्थ कुरूद्यमम् ॥[2]

अभयदेव बोले—शासनदेवी! मैं साधारण बौद्धिक क्षमतावान् हूँ। मेरे द्वारा तो आगमों को सम्पूर्णतः समझना भी दुष्कर है,

---

[1] प्रभावक चरित, पृष्ठ १६४

[2] प्रभावक चरित, पृष्ठ १६४

तो उनपर विवेचन करना तो असम्भव जैसा है। यदि अज्ञान या प्रमादवश कहीं उत्सूत्र प्ररूपणा हो गई, तो वह मेरे लिए अनन्त संसार की वृद्धि का कारण बन सकता है। आपके वचनों को टालना भी औचित्य पूर्ण नहीं है। अतः मैं किंकर्त्तव्य विमूढ़ बना हुआ सोच रहा हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं।

देवी ने आगमनिष्ठ अभयदेव की मनः स्थिति को समझते हुए कहा, आचार्यवर! इस कार्य के लिए आपको सम्पूर्णरूपेण योग्य समझकर ही मैंने आपसे यह निवेदन किया है। आप सिद्धान्तों के ग्राह्य अर्थों का ग्रहण करने में सर्वथा समर्थ हैं। यदि कहीं आपको कोई शंका हो जाये, तो आप मेरा स्मरण कर लेना। मैं सीमन्धर स्वामी से पूछकर प्रश्नोत्तर दे दूँगी।

महामनीषी अभयदेव को शासनदेवी के वचनों से बल, उत्साह और सन्तोष मिला। उन्होंने अप्रमत्त होकर निरंतर आचाम्लतप के साथ टीकाओं की रचना प्रारम्भ कर दी।[१] आगमों के टीका-लेखन के प्रति उनकी निष्ठा अप्रतिम थी। मनोयोग पूर्वक लेखन करने के कारण वे नौ अङ्गागमों पर टीका रचने में सफल हुए। टीका-रचना का कार्य पूर्ण होने के बाद उनका धवलकपुर में आगमन हुआ।

टीका-लेखन-कार्य में अभयदेव इतने अधिक तल्लीन हो गये थे कि रात्रि-जागरण, जलसेवन, आहारचर्यादि उनके लिए उपेक्षणीय हो गये। आचाम्लतप वैसे भी चालू था। उनका शारीरिक बल शिथिल हो गया। उन्हें कुष्ठ रोग ने घेर लिया। विरोधीपक्ष कहने लगा—अभयदेव ने उत्सूत्र प्ररूपणा की है, इसीलिए उन्हें कुष्ठ-रोग हुआ है। शासन देवी ने उन्हें उनके कृत कार्य का दण्ड दिया है।

---

१ श्रुत्वेत्यङ्गीचकारथ कार्यं दुष्करमप्यदः।
आचाम्लानि चारब्ध ग्रन्थ सम्पूर्णतावधिः॥

—प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १६४

अभयदेव लोकापवाद सुनकर व्यथित हो गये। उन्होंने धरणेन्द्र का स्मरण किया। धरणेन्द्र ने रात्रि के समय अभयदेव की रुग्ण देह को जिह्वा से चाटकर रोग-मुक्त किया। निरोगीकरण के समय अभयदेव को स्वप्न रूप में ऐसा अहसास हुआ कि विकराल काल महादेव ने उनकी देह को कुण्ठित और आक्रान्त कर दिया है अतः अभयदेव ने अपने आयुष्य को शेष प्रायः समझा, उन्होंने सोचा कि अब मुझे अनशन ले लेना चाहिये। धरणेन्द्र ने जब अभयदेव के इस संकल्प को जाना तो स्वप्न में पुनः प्रगट होकर कहा इस समय ऐसे संकल्प की आवश्यकता नहीं है। मैंने आपका कुष्ठ रोग शान्त कर दिया है। अभयदेव बोले—नागेन्द्र! मैं मृत्यु से भयभीत नहीं हूँ। मेरे लिए यदि कुछ असह्य है तो वह धर्म संघ का यह लोकापवाद है। धरणेन्द्र ने अभयदेव की संघीय प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करना अत्यावश्यक समझा। उसने अभयदेव को स्तम्भन ग्राम के पास सेढ़िका नदी के तीर पर तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा को प्रकट करने का निवेदन किया। धरणेन्द्र के संकेतानुसार आचार्य अभयदेव श्रावक संघ के साथ स्तम्भन ग्राम के समीप प्रवाहमान सेढ़िका नदी के तीर पर पहुँचे और धरणेन्द्र द्वारा अनुदिष्ट स्थल पर अन्तःप्रेरित भक्ति काव्य का संगान प्रारम्भ किया। ३२ पद्यों में संगायित यह स्तोत्र 'जयतिहुअण स्तोत्र' के नाम से विख्यात् हुआ। इस स्तोत्र की रचना एवं संगान से वहाँ भगवान पार्श्वनाथ की नयनाभिराम दिव्य प्रतिमा प्रकट हुई। वह प्रतिमा आज भी खम्भात में है।

प्राप्त उल्लेखों के अनुसार किसी समय श्री कान्तानगरी में धनेश नामक श्रावक को वहाँ की अधिष्ठायक देवी की अनुकम्पा से तीन प्रतिमाएँ समुद्र में प्राप्त हुईं। धनेश ने उनमें से एक प्रतिमा चारूप ग्राम में स्थापित की तो दूसरी को पाटण में और तीसरी को सेढ़िका नदी के किनारे वृक्ष समुदाय के बीच भूमिगृह में स्थापित की थी। कहा जाता है कि नागार्जुन ने रस सिद्धि विद्या की साधना इसी

तीसरी प्रतिमा के समक्ष बैठकर की थी। यह तृतीय प्रतिमा अतिशय प्रभावापन्न थी। जयतिहुअण स्तोत्र के द्वारा प्रतिमा प्रगट होने के कारण स्तोत्र भी अत्यधिक प्रभावशाली माना जाने लगा। अभयदेवसूरि द्वारा सेढ़िका नदी के किनारे स्तोत्र-प्रभाव से प्रतिमा को प्रगट कर देने के कारण न केवल लोकापवाद मिट गया अपितु उनकी यशोगाथा भी अभिवर्धित हुई। अब तो सर्वत्र लोगों के मुँह से प्रशंसा और वाहवाही होने लगी। लोगों ने भी अपने-अपने मनोवांछित कार्य सिद्ध करने के लिए जयतिहुअण स्तोत्र का आलम्बन लिया। धरणेन्द्र ने स्तोत्र के उन दो सर्वाधिक प्रभावशाली पद्यों को लुप्त कर दिया जिनमें धरणेन्द्र को आह्वान करने का बीज मन्त्र समाहित था।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली ग्रन्थ के अनुसार आचार्य अभयदेव को गुजरात राज्य के खम्भात नगर में टीका रचना से पहले ही कोढ़ रोग ने घेर लिया था। शासनदेवी के द्वारा टीका की रचना का निवेदन किये जाने पर अभयदेव ने कहा—देवी! मेरे शरीर के सारे अंग गलित हो चुके हैं। अतः मैं आगमों की टीकाओं को लिखने में असमर्थ हूँ। शासनदेवी ने कहा—जिनागम सिन्धो! आप चिन्ताक्रान्त न हों। आने वाला कल आपके वर्तमान में टीका रचना का महान भविष्य प्रतिबिम्बित होता हुआ देख रहा है। आप नवांगी टीका करेंगे और जैन धर्म के महान प्रभावक आचार्य के रूप में समादृत होंगे।[१] वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि में भी उक्त तथ्य की पुष्टि की गई है।[२]

विविध तीर्थकल्प ग्रन्थ के अनुसार आचार्य अभयदेव को खम्भात नगर में अतिसार रोग ने जकड़ लिया था। रोग वर्धन देख आचार्य ने अनशन स्वीकार करने की मन में ठानी। समीपवर्ती गाँवों से जो श्रावक पाक्षिक प्रतिक्रमण करने आते थे उन्हें दो दिन पहले ही

---

[१] युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि, पृष्ठ ६

[२] वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि, पृष्ठ ६०

आने के लिए सूचना दिलवा दी गई ताकि आचार्य अभयदेव संबंधित श्रावक-समाज से क्षमत-क्षमापन कर सके।

प्राप्त सूचना के अनुसार त्रयोदशी के दिन श्रावक-समाज एकत्रित हुआ। उसी रात आचार्य अभयदेव को शासन देवी ने टीका-रचना का कार्य प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी।[1] वृद्धाचार्य प्रबन्धावली के अनुसार देवी से सम्प्रेरित होकर अभयदेव श्रावक संघ के साथ सेढ़िका नदी गये। वहीं पर उन्होंने जयतिहुअण स्तोत्र की रचना की और पार्श्वनाथ की प्रतिमा आविर्भूत की। प्रतिमा के स्नात्र-जल से अभयदेव का कुष्ठ रोग समाप्त हो गया और शरीर स्वर्णवर्णीय हो गया।[2]

आचार्य अभयदेवसूरि को क्या रोग हुआ था, इस सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के संकेत मिलते हैं। प्रभावक चरितकार के अनुसार इन्हें रक्त विकार रोग हुआ था।[3] उपदेश सप्ततिका के अनुसार कुष्ठ रोग, तीर्थकल्प के अनुसार अतिसार रोग हुआ था।[4] प्रबन्धकारों के उल्लेखों में भले ही अन्तर हो, किन्तु इतना तो निश्चित है कि आचार्य अभयदेवसूरि किसी रोग से पीड़ित थे। आचार्य अभयदेव सूरि साहित्य साधना से पूर्व रोग पीड़ित हुए या उसके मध्य समय में या उसके बाद में इस बारे में प्रबन्धकारों ने भिन्न-भिन्न उल्लेख किये हैं। सुमति गणि, उपाध्याय जिनपाल और जिनप्रभसूरि द्वारा

---

[1] तेरसी अड्ढरत्ते य भणिआ पहुणो सासणदेवयाय भयवं।
जग्गह सुअह वा ? तओ मन्दसरेणं वुत्तं पहुणा-कओ मे निद्दा।
देवीए भणिअं एआओ नवसुत्तकुक्कुडीओ उम्मोहेसु।
—विविध तीर्थकल्प, पत्रांक-१०४

[2] तप्पभावाओ अभयदेवस्स कुट्ठं गयं। सुवण्णवन्नो सरीरो जाओ।
—वृद्धाचार्य प्रबन्धावली, पत्र-३

[3] प्रभावक चरित, पृष्ठ १६०

[4] तीर्थकल्प, पृष्ठ १०४

किये गये उल्लेखानुसार आचार्य अभयदेव साहित्य-साधना प्रारम्भ करने से व्याधिग्रस्त हुए थे। प्रभावक चरितकार, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध संग्रह आदि ग्रन्थों के अनुसार आचार्य अभयदेवसूरि नवांग टीका की पूर्णाहुति के बाद रुग्ण हुए थे।

आचार्य मेरुतुंगसूरि के उल्लेखानुसार स्तम्भन पार्श्वनाथ-प्रतिमा के प्रकटीकरण का समय वि० सं० ११३१ है।[1] जब कि अभयदेव ने टीका-रचना का कार्य वि० सं० ११२० से ११२८ तक किया। पट्टावलियों के अनुसार वि० सं० ११३५ (सं० ११३६ का भी उल्लेख मिलता है) में अभयदेव का स्वर्गवास हुआ था। उक्त उल्लेखों में यदि मेरुतुंगका संवतोल्लेख सही है तो अभयदेव ने रुग्ण होने से पूर्व ही टीका-रचना का कार्य कर लिया था। प्रतिमा-प्रगटन का संवतोल्लेख अन्य किसी ग्रन्थ में प्राप्त न हो पाने के कारण मेरुतुंग के उल्लेख की पुष्टि नहीं की जा सकती।

'प्रभावक-चरित' ग्रन्थानुसार टीका-रचना का कार्य 'पव्यपुर' नगर में हुआ था, जब कि स्वयं अभयदेव के ग्रन्थों के अनुसार यह बात खंडित होती है। उनके अनुसार यह कार्य पाटण में हुआ था। उपाध्याय जिनपाल ने लिखा है कि आचार्य अभयदेव ने पाटण के 'करडी हट्टी' क्षेत्र में प्रवास कर नव अंगों पर वृत्ति लिखी थी।[2] अभयदेव के अनुसार न केवल टीका रचना का कार्य पाटण में हुआ, वरन् पाटणके संघ-

---

[1] श्रीमदभयदेव सूरिनवांगवृत्तिकारः सो पिकर्मोदयेन कुष्टी जातः श्रुतदेवतादेशात् दक्षिणदिग्विभागात् धवलक्के समागत्य संघायात्रया श्री स्तम्भनाथ क्रु प्रणंतु स सूरिरागतः।
११३१ वर्षे श्री स्तम्भनायकः प्रकटीकृताः स्तम्भपार्श्वनाथ चरित्र, उद्धृतमणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ १८

[2] तत्स्थानात् पत्तने समायाताः। करडिहट्टी वसतौ स्थिताः।
तत्र स्थितैर्नवांगानां स्थानप्रभृतीनां वृत्तयः कृताः॥
—युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृष्ठ ७

प्रमुख द्रोणाचार्य प्रभृतिने उनका आवश्यक संशोधन भी किया। द्रोणाचार्य वास्तव में चैत्यवासी परम्परा के बहुश्रुत आचार्य थे। अभयदेव सुविहित मार्गी थे। परस्पर विरुद्ध परम्परा के होते हुए भी दोनों का एक-दूसरे से धर्मस्नेह था।

चैत्यवासी-परम्परा के प्रमुखों की पराजय के पश्चात् उनका धर्मसंघ से गुरुत्व-सत्तागत एकाधिपत्य समाप्त हो गया। सुविहित साधुओं का समस्त गुजरात में निरापद/निर्विघ्न विचरण होने लग गया। आचार्य अभयदेवसूरि ने शिथिलाचार का विरोध करते हुए भी उनके साथ सौजन्य-पूर्ण व्यवहार बनाए रखने की उदारता दिखायी।

चैत्यवासी परम्परा के आचार्य-प्रमुख द्रोण आगमवेत्ता थे। आगम की वाचना लेने के लिए उनके पास विशाल विद्वत्-समुदाय उपस्थित होता था। आचार्य अभयदेवसूरि भी आगमों के चोटी-के विद्वान थे। आचार्य द्रौण की आगमिक विवेचन शैली का समीक्षण करने के लिए आचार्य अभयदेव उनके पास गये। दोनों का मधुर मिलन हुआ। यद्यपि द्रौण अपनी परम्परा के चौरासी आचार्यों के प्रतिनिधि/प्रधान आचार्य थे; किन्तु खरतरगच्छ के तपोनिष्ठ प्राज्ञ-पुरुष अभयदेव का सम्मान करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। स्वयं द्रोण ने उनकी भाव उल्लसित अगवानी की। अभयदेवसूरि ने उनकी विवेचन-शैली को ध्यान से सुना। वे स्वयं भी आगमों के विशिष्ट व्याख्याता थे। उन्हें द्रोण की विवेचन शैली में कुछ विशिष्टताएँ भी लगीं तो कुछ कमियाँ भी।

आचार्य अभयदेव ने अपनी आगमिक व्याख्याओं को द्रोण के सम्मुख प्रस्तुत किया। द्रोण उनका पठन कर आचार्य अभयदेव की विवेचन क्षमता पर चमत्कृत एवं अभिभूत हुए। द्रोण का अभयदेवसूरि के प्रति प्रगाढ़ आदर भाव हो गया। उन्होंने अभयदेवसूरि की आगम-

व्याख्याओं को पढ़ा, सुझाव भी दिये, संशोधन-सम्पादन भी किया। यह वास्तव में दो ज्ञान-मनस्वियों का साहित्यमूलक सद्व्यवहार था।

आचार्य अभयदेव के प्रति द्रोण का यह सारस्वत व्यवहार अन्य चैत्यवासी आचार्यों के लिए प्रक्षुब्ध होने का कारण बना। वे द्रोण के प्रति रुष्ट हुए; किन्तु द्रोण ने कहा कि अभयदेव के प्रति हमारी परम्परा के आचार्यों की रुष्टता धृष्टता नहीं तो और क्या है ? विश्व में आचार्य तो अनेकानेक हैं; किन्तु अभयदेव की तुलना अन्य किसी आचार्य से नहीं की जा सकती। वे अतुलनीय हैं, सर्वोपरि हैं।[1]

टीका-लेखन में अभयदेव को जिन विद्वानों का सहयोग मिला था, उनमें द्रोणाचार्य का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। स्वयं अभयदेव ने अपने टीका-ग्रन्थों की प्रशस्ति में द्रोणाचार्य का साभार सादर उल्लेख किया है।[2] अभयदेव को टीका-लेखन के कार्य में आचार्य अजितसिंह के अन्तेवासी यशोदेव गणि की भी सहायता मिली थी।[3]

---

१ आचार्याः प्रतिसद्म सन्ति महिमा येषामपि प्राकृते—
मतुं नाऽध्यवसीयते सुचरितैस्तेषां पवित्रं जगत्।
एकेनाऽपि गुणेन किन्तु जगति प्रज्ञाधनः साम्प्रतं,
यो धत्तेऽभयदेवसूरि-समतां सोऽस्माकमावेद्यताम्।

—आचार्य द्रोण

२ तथा सम्भाव्य सिद्धान्ताद्, बोध्यं मध्यस्थयाधिया।
द्रोणाचार्यादिभिः प्राज्ञैरनेकैरादृतं यतः॥

—स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति ६, पृष्ठ ५००

३ संविग्न मुनिवर्ग श्रीमदजितसिंहाचार्यान्तेवासि-यशोदेव गणिनामधेय-साधोरुत्तरसाधकस्येव विद्या क्रिया प्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्।

—स्थानांगवृत्ति, पृष्ठ ४९९ (२)

अभयदेव ने जो टीकाएँ लिखीं, उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार करवाने में अनेक दानवीर श्रावकों का हाथ रहा। प्रभावक चरित के अनुसार उनके टीका-साहित्य की प्रतिलिपियाँ तैयार करवाई धवलक नगरी के चौरासी श्रीमन्त श्रावकों ने।[१] उस उसय चौरासी प्रतियाँ तैयार हुईं।

प्रभावक चरित और पुरातन प्रबन्ध के उल्लेखानुसार टीका-प्रति लेखन में तीन लाख द्रमक (मुद्रा-विशेष) का खर्चा हुआ। शासनदेवी द्वारा निक्षिप्त आभूषणों को श्रावकों ने नरेश भीम को प्रदान किये। नरेश ने उनके बदले में तीन लाख द्रमक दिये, जिससे श्रावकों ने अभयदेव के टीका-ग्रन्थ लिखवाए।

प्रभावक चरित का यह उल्लेख संदिग्ध है। क्योंकि टीकाएँ सं० ११२० से ११२८ तक लिखी गईं, जबकि पाटण नरेश भीम का राज्यकाल सं० १०८४ तक माना गया है।

उपाध्याय जिनपाल के मतानुसार प्रतिलेख कार्य में पाल्हउद्रा ग्राम के श्रावकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। टीका-लेखन के बाद अभयदेव पाल्हउद्रा गाँव में विचरण कर रहे थे। उस समय स्थानीय श्रावकों को अचानक सूचना मिली कि उनके माल से भरे जहाज समुद्र में डूब गए हैं। इससे वे खिन्न और उदास हो

---

१ पत्तने ताम्रलिप्त्यां चाशापल्यां धवलक्के।
चतुराश्चतुरशीतिः श्रीमन्तः श्रावकास्तथा॥
पुस्तकान्यङ्गवृत्तीनां वासनाविशदाशया।
प्रत्येकं लेखयित्वा ते सूरीणां प्रददुर्मुदा॥

—प्रभावक चरित, पृष्ठ १६५

गए। जब वे यथा समय उपाश्रय में धर्म-क्रिया करने के लिए नहीं आए तो अभयदेव स्वयं उनके आवास गृहों में गए। अभयदेव ने पूछा, क्या बात है? वन्दन-वेला का अतिक्रम कैसे हुआ? श्रावकों ने जहाज डूबने की बात बताई तो अभयदेव ने क्षणभर ध्यान करके कहा, आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। धर्म के प्रभाव से परिस्थिति आपके अनुकूल रहेगी।

आचार्य के इस कथन से सब सन्तुष्ट हुए। दूसरे दिन उनके जहाज जब सुरक्षित आ गए तो वे आचार्य से अत्यधिक प्रभावित हुए और कहा कि इस माल के विक्रय से जो लाभ होगा, उसका आधा भाग टीका-साहित्य-लेखन में व्यय करेंगे।[१]

उपाध्याय जिनपाल के अनुसार पाल्हउद्रा ग्रामवासियों ने इस प्रकार टीका-साहित्य-लेखन में अर्थ-सौजन्य प्रदान किया। वास्तव में श्रावक-वर्ग के सक्रिय अनुदान के कारण ही आचार्य अभयदेव के टीका-साहित्य का प्रसारण हो सका।

आचार्य अभयदेवसूरि की भावी गति के सन्दर्भ में युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में एक घटना उल्लिखित है। उसमें लिखा है कि आचार्य अभयदेवसूरि ने श्रुतसाधना काल में दो गृहस्थों को प्रतिबोध देकर सम्यक्त्वमूल द्वादशव्रतधारी बनाया। वे दोनों धर्म का पालन करते हुए अन्त में मरकर देव बने और देवलोक से तीर्थंकर वन्दन के लिए महाविदेह क्षेत्र में गये। वहाँ पर उन्होंने सीमन्धर स्वामी की धर्म-देशना श्रवण कर पूछा कि हमारे गुरुदेव आचार्य प्रवर अभयदेवसूरि

---

१ यावल्लाभः क्रयाणकेन भविष्यति, तदर्धेन सिद्धान्तलेखनं कारयिष्यामः।

—युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृष्ठ ८

कौन से भव में मोक्ष पधारेंगे। सीमन्धर ने कहा कि आचार्य अभयदेव तीसरे भव में मुक्ति को वरण करेंगे।[1] यह सुनकर दोनों देव प्रमुदित हुए और अभयदेव को इस तथ्य से अवगत कराया—

भणियं तित्थयरेहिं महाविदेहे भवंमि तइयंमि।
तुम्हाण च्चैव गुरवो मुत्ति सिग्घं गमिस्संति॥

अर्थात् महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकरों ने यह बात कही है कि तुम्हारे गुरु तीसरे भव में शीघ्र ही मोक्ष जायेंगे।

प्रभावक चरित में अभयदेवसूरि के स्वर्गवास की समयपरक सूचना नहीं दी गई है। उसमें केवल इतना ही लिखा गया है कि 'वे पाटन में कर्णराज के राज्य में स्वर्गवासी हुए।' पट्टावलियों में अभयदेवसूरि का स्वर्गारोहण समय सूचित है। एक मत के अनुसार अभयदेव का स्वर्गवास वि० सं० ११३५ में हुआ तो दूसरे मत के अनुसार वि० सं० ११३९ में। पट्टावलियों में पाटण के स्थान पर कपड़वंज ग्राम में उनके स्वर्गवास होने का उल्लेख मिलता है।

गोत्र-स्थापन :—आचार्य अभयदेवसूरि एक आदर्श आगमवेत्ता सन्त थे। समाज पर उनका अमिट प्रभाव था। क्षत्रियों-राजपूतों को सद्धर्म की प्रेरणा देकर उन्हें जैनधर्म का अनुयायी बनाया। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार अभयदेव ने खेतसी, पगारिया, मेड़तवाल आदि गोत्र संस्थापित किये थे। वि० सं० ११११ में अभयदेव ने भिन्नमाल में सनाढ्य ब्राह्मण जाति के शंकरदास को प्रतिबोध देकर उसे एवं उसके वंशजों को जैन बनाया था।

साहित्य :—आचार्य अभयदेवसूरि एक कवि, विचारक, प्रवचनकार एवं आगम-परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने आगमों पर

---

[1] तृतीये भवे सेत्स्यती। —वही, पृष्ठ ७

तो व्याख्या-ग्रन्थ लिखे ही, अपनी आगमेतर मौलिक कृतियाँ भी साहित्य-संसार को प्रदान कीं। आचार्य अभयदेव के साहित्य को समाज में आप्तवचन के रूप में स्वीकार किया जाता है।

साहित्य-जगत् को अभयदेव का सबसे बड़ा अनुदान टीका-रचना का है। प्राचीन जैन टीका-साहित्य में अभयदेव कृत टीका-ग्रन्थों का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। यों तो सैकड़ों विद्वानों ने आगमों पर टीका-ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें आचार्य हरिभद्रसूरि, शीलांकसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि प्रसिद्ध नाम हैं। इनमें अभयदेवसूरि की टीकाओं की विशेष मान्यता है। अभयदेवसूरि नवांगीटीकाकार के रूप में विख्यात् हैं। इन्होंने निम्नलिखित आगमों पर टीकाएँ रची हैं—१. स्थानांग, २. समवायांग, ३. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ४. ज्ञाताधर्मकथा, ५. उपासकदशा, ६. अंतकृद्दशा, ७. अनुत्तरौपपातिक, ८. प्रश्न व्याकरण, ९. विपाक। इन नौ आगमों के अतिरिक्त औपपातिक नामक उपांग पर भी टीका लिखी है।

अभयदेव ने टीकान्तर्गत मूलग्रन्थ के प्रत्येक शब्द की विवेचना एवं आलोचना की। उन्होंने विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान दिया। ये टीकाएँ शब्दार्थप्रधान होते हुए भी वस्तु विवेचन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। टीका-रचना के अतिरिक्त भी उनका साहित्य है। संक्षेप में, उनके साहित्य का परिचय इस प्रकार है—

१. स्थानांगवृत्ति :—प्रस्तुत वृत्ति[1] स्थानांग के मूल सूत्रों पर है। इसमें मूल सूत्रों का तथा सूत्र सम्बन्धित विषयों का विस्तृत विवेचन एवं विश्लेषण हुआ है। ग्रन्थ में अभयदेव की दार्शनिक दृष्टि सर्वत्र

---

[1] (क) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८०
(ख) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-२०
(ग) माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद, सन् १९३७

दिखाई देती है। उन्होंने वृत्ति में निक्षेप-पद्धति का भी व्यवहार किया है। वृत्ति में निर्युक्तियों और भाष्यों की शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दृष्टान्तों के रूप में संक्षिप्त कथानकों का भी इसमें उपयोग हुआ है।

इस वृत्ति की रचना में अभयदेवसूरि को संविग्नपाक्षिक अजितसिंहसूरि के शिष्य गणि यशोदेव की सहायता प्राप्त हुई थी।[1] वृत्तिकार को आचार्य द्रोण का सहयोग भी इस वृत्ति के संशोधन में प्राप्त हुआ था।[2] इसकी रचना विक्रम संवत् ११२० में हुई थी।[3] इसका ग्रन्थमान १४२५० श्लोक-प्रमाण है।[4]

२. समवायांगवृत्ति :—प्रस्तुत वृत्ति[5] अंगागमों में चतुर्थ अंग समवायांग के मूल सूत्रों पर है। यह वृत्ति न तो अधिक विस्तृत है और न ही अधिक संक्षिप्त। वृत्ति में अनेक स्थलों पर प्रज्ञापना

---

[1] संविग्नमुनिवर्गश्रीमद्जितसिंहाचार्यान्तेवासियशोदेवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाधकस्येव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्।

—स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति, पृष्ठ ४९९

[2] तथा सम्भाव्य सिद्धान्ताद्, बोध्यं मध्यस्थया धिया।
द्रोणाचार्यादिभिः प्राज्ञैरनेकैरादृतं यतः॥

—स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति, (६) पृष्ठ ५००

[3] श्री विक्रमादित्यनरेन्द्रकालाच्छतेन विंशत्यधिकेन युक्ते।
समासहस्रेऽतिगते विदृब्धा स्थानाङ्गटीकाऽल्पधियोऽपि गम्या॥

—स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति (७), पृष्ठ ५००

[4] प्रत्यक्षरं निरूप्यास्या ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
अनुष्टुभां सपादानि सहस्राणि चतुर्दश॥

—स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति, पृष्ठ ५००

[5] (क) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८०
(ख) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९१९
(ग) मफतलाल झवेरचन्द, अहमदाबाद, सन् १९३८
(घ) गुजराती सानुवाद, जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९९५

सूत्र का उल्लेख मिलता है। 'गन्धहस्त्यादिष्वपि तथैव दृश्यते प्रज्ञापनायांत्वेकत्रिंशदुक्तेति मतान्तरमिदं'—इस सन्दर्भ में 'गन्धहस्ती' भाष्य का उल्लेख है।

प्रस्तुत वृत्ति वि० सं० ११२० में अणहिलपुर पाटण में रची गई।[1] इसका ग्रन्थमान ३५७५ श्लोक-परिमाण है।[2]

३. व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति :—व्याख्याप्रज्ञप्ति भगवती सूत्र का ही दूसरा नाम है। प्रस्तुत वृत्ति व्याख्या प्रज्ञप्ति के मूल सूत्रों पर लिखी गयी व्याख्या है।

प्रस्तुत वृत्ति शब्दार्थ प्रधान है। इसमें व्याख्यान्तर्गत अन्य ग्रन्थों के उद्धरण भी उद्धृत किये गये हैं, जिससे प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण एवं पुष्टीकरण हुआ है। आचार्य ने जिन पाठान्तरों और व्याख्यापरक भेदों को दिया है, वे महत्त्वपूर्ण माने जाने चाहिये।

व्याख्या प्रज्ञप्ति पर यह सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध टीका है। आचार्य ने मूल ग्रन्थ के प्रत्येक शतक की टीका का समापन एक-एक श्लोक के साथ किया है। उनके अनुसार अणहिलपाटक नगर में वि० सं० ११२८ में यह वृत्ति लिखी गई[3] एवं इसका ग्रन्थमान १८६१६ श्लोक-प्रमाण है।[4]

---

१ एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिलपाटकनगरे रचिता समवाय टीकेयम्॥
—समवायांगवृत्ति, प्रशस्ति ८, पृष्ठ १४८

२ प्रत्यक्षरं निरूप्यास्याः ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
त्रीणि श्लोक सहस्राणि पादन्यूना च षट्शती॥
—समवायांगवृत्ति, प्रशस्ति ६, पृष्ठ १४८

३ अष्टाविंशतियुक्ते वर्ष सहस्रे शतेन चाभ्यधिके।
अणहिलपाटकनगरे कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ॥
—व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति, प्रशस्ति १५

४ अष्टादशसहस्राणि षट् शतान्यथ षोडश।
इत्येवं मानमेतस्यां श्लोकमानेन निश्चितम्॥ —वही, प्रशस्ति १६

४. ज्ञाताधर्मकथा विवरण :—यह[1] एक शब्दार्थ प्रधान सूत्र-स्पर्शी वृत्ति है। आचार्य ने प्रत्येक अध्ययन के अन्त में उसका उपसंहार भी प्रदान किया है, उससे फलित होने वाला विशिष्ट अर्थ भी दिया है एवं उसकी परिपुष्टि के लिए तदर्थ सम्बन्धित प्रमाण भी दिये हैं। विवरण के परिशोधन में द्रोणाचार्य का सहयोग एवं सहकार प्राप्त होने का लेखक ने उल्लेख किया है।[2]

इसका रचनाकाल वि० सं० ११२०, विजयादशमी है और रचनास्थल अणहिलपाटक नगर है।[3] इसका ग्रन्थमान ३८०० पद्य-परिमाण बताया गया है।[4]

५. उपासकदशांगवृत्ति :—यह वृत्ति[5] न तो अति विस्तृत है और न अति संक्षिप्त। मूल सूत्र-स्पर्शी शब्दार्थ प्रधान यह वृत्ति ८१२ पद्य-परिमाण है। प्रस्तुत वृत्ति की अपेक्षा ज्ञाता धर्मकथा पर रचित वृत्ति अधिक विस्तृत है। आचार्य ने प्रस्तुत वृत्ति में अनेक स्थानों पर यह निर्देश दिया है कि एतद्सम्बन्धित विवेचन ज्ञाताधर्मकथा विवरण में अवलोकनीय है।

---

१ आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१९

२ निर्वृतककुल नभस्तल चन्द्रद्रोणाख्यसूरि मुख्येन।
पंडितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम्॥

—ज्ञाताधर्मकथा विवरण, प्रशस्ति १०

३ एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिलपाटकनगरे विजयदशम्यां च सिद्धेयम्॥

—वही, प्रशस्ति १२

४ प्रत्यक्षरं गणनया ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
अनुष्टभां सहस्राणि त्रीण्येवाष्ट शतानि च॥

—वही, प्रशस्ति ११

५ (क) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६
(ख) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०
(ग) गुजराती-अनुवाद, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, वि० सं० १९९२

प्रस्तुत वृत्ति का रचना-काल एवं रचना-स्थल अज्ञात है।

६. अन्तकृद्दशावृत्ति :—यह वृत्ति[1] भी मूल सूत्रस्पर्शी एवं शब्दार्थप्रधान है। जिन पदों की व्याख्या आचार्य ज्ञाताधर्मकथा में कर चुके हैं, उनकी पुनरावृत्ति इसमें नहीं की गई है। वृत्ति के अन्त में आचार्य लिखते हैं: यदिह न व्याख्यातं तज्ज्ञाताधर्मकथा विवरणाद्-वसेयम्—जिसका यहाँ व्याख्यान न हुआ हो, वह ज्ञाताधर्मकथा के विवरण से जानें।

वृत्ति का ग्रन्थमान ८९९ श्लोक-परिमाण है। रचना स्थल एवं रचनाकाल उल्लिखित नहीं है।

७. अनुत्तरौपपातिक दशावृत्ति :—प्रस्तुत वृत्ति[2] 'अनुत्तरौप-पातिक दशा' सूत्र पर एक संक्षिप्त व्याख्या है। अभयदेव के टीका-साहित्य में यह सर्वाधिक लघु टीका है। इसका ग्रन्थमान मात्र १०० श्लोक प्रमाण है।

८. प्रश्नव्याकरणवृत्ति :—प्रस्तुत व्याख्यामूलक ग्रन्थ[3] प्रश्नव्याकरण पर लिखा गया एक शब्दार्थ प्रधान विवेचन है। आचार्य ने ग्रन्थ की दुरूहता को स्वीकार किया है।[4] इसमें आस्रवपंचक एवं संवरपंचक का प्रतिपादन हुआ है। इसका ग्रन्थमान ४६३० पद्य परिमाण है। द्रोणाचार्य ने इस वृत्ति का संशोधन-सम्पादन किया था।

---

[1] (क) राय बहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५
(ख) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२०
(ग) गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदावाद, सन् १९३२

[2] वही सन्दर्भ ज्ञातव्य

[3] (क) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६
(ख) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९

[4] अज्ञा वयं शास्त्रमिदं गभीरं प्रायोस्य कूटानि च पुस्तकानि।
सूत्रं व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य व्याख्यानकल्पादित एव नैव ॥
—प्रश्नव्याकरणवृत्ति, प्रारम्भ

९. विपाकवृत्ति :—प्रस्तुत वृत्ति[1] में भी आचार्य ने अन्य वृत्तियों में अपनायी गयी शब्दार्थ शैली का अनुगमन किया है। उन्होंने इसमें परिभाषिक शब्दों का संतुलित अर्थ प्रस्तुत किया है।

इसका संशोधन द्रोणाचार्य ने अणहिलपुर पाटण नगर में किया था। वृत्ति का ग्रन्थमान ३१२५ पद्य-परिमाण बताया गया है।

१०. औपपातिक वृत्ति :—यह वृत्ति[2] भी शब्दार्थ प्रधान है। इसमें आचार्य ने जिन शताधिक सांस्कृतिक एवं प्रशासन विषयक शब्दों की व्याख्या की है, वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। द्रोणाचार्य के सहयोग से आचार्य ने अणहिलपाटक नगर में इसे पूर्ण किया।[3] इसका ग्रन्थमान ३१२५ श्लोक परिमाण बताया है।

११. पंचनियंठी (पंचनिर्ग्रन्थी) :—यह कृति[4] जैन महाराष्ट्री में १०७ पद्यों में निबद्ध है। इसका दूसरा नाम 'पंचनिर्ग्रन्थी विचार-संग्रहणी' है। इसका ग्रन्थन 'विवाहपण्णत्ति' के आधार पर हुआ है। इसमें पुलाक, बकुश आदि निर्ग्रन्थों के पाँच भेदों का प्रतिपादन हुआ है। इस कृति पर विरचित एक अवचूरि भी प्राप्त होती है, जिसका कर्त्ता अज्ञात है। यह अवचूरि जैन आत्मानन्द सभा से प्रकाशित हुई है।

---

१ (क) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६
(ख) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०
(ग) मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ोदा, सन् १९२०
(घ) गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९३५
(मूल, आंग्लानुवाद, टिप्पण सहित)

२ आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६

३ अणहिलपाटकनगरे श्रीमद्द्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम्॥
—औपपातिकवृत्ति, प्रशस्ति ३, पृष्ठ ११९

४ जैन आत्मानन्द सभा, वि० सं० १९७४

१२. पंचाशक वृत्ति :—वि० सं० ११२४ में धोलका में लिखित यह कृति 'पंचाशक' पर एक सुन्दर व्याख्या है। इसमें १६ पंचाशक हैं एवं प्रत्येक विषय के लिए ५०-५० पद्य हैं। ग्रन्थ-परिमाण ७४८० श्लोक है।

१३. आराधनाकुलक :—यह रचना ८५ पद्यों में है। इसका रचना-स्थल तथा रचनाकाल ज्ञात नहीं है।

१४. जयतिहुअण स्तोत्र :—आचार्य अभयदेव की यह एक प्रसिद्ध रचना है। पट्टावलियों के अनुसार इसी स्तोत्र के प्रभाव से स्तम्भनकपुर ग्राम के निकट सेढ़िका नदी के पास पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई थी। खरतरगच्छ में सान्ध्य-प्रतिक्रमण के समय इस स्तोत्र का नियमित पठन होता है। वृद्धाचार्य प्रबन्धावली में प्राप्त प्रमाण के अनुसार यह परम्परा काफी प्राचीन है।[1]

१५. प्रज्ञापनातृतीय पद संग्रहणी :—यह[2] एक संग्रह-कृति है, जो जैन महाराष्ट्री भाषा के १३३ पद्यों में है। इसमें संग्रहकर्ता ने प्रज्ञापनासूत्र के ३६ पदों में से 'अल्पबहुत्व' नामधेयक तृतीय पद को लक्ष्य में रखकर जीवों का २७ 'द्वारों' द्वारा अल्पबहुत्व दर्शाया है। यह ग्रन्थ १३३२ श्लोक-प्रमाण है।

इस पर वि० सं० १४७१ में आचार्य कुलमण्डनसूरि ने अवचूर्णि लिखी थी और वि० सं० १७८४ में जीवविजय ने बालावबोध लिखा था।

आचार्य अभयदेव की अन्य कृतियाँ इस प्रकार हैं—

१६. सप्ततिका भाष्य, भाष्य परिमाण १६२ श्लोक।

---

[1] खरतरगच्छे 'जयतिहुअण' नमोक्कारं विणा पडिक्कमणं न लब्भइ।
—वृद्धाचार्य प्रबन्धावली, ३

[2] जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७४

१७. बृहद् वन्दनक भाष्य, भाष्य परिमाण ३३२ श्लोक।
१८. नवपद प्रकरण भाष्य, भाष्य परिमाण १५१२ श्लोक।
१९. आगम अष्टोत्तरी।
२०. निगोद षट्त्रिंशिका।
२१. पुद्गल षट्त्रिंशिका।
२२. आलोयणा विधि प्रकरण गाथा २५।
२३. स्वधर्मी वात्सल्यकुलक, गाथा २५।
२४. पार्श्व स्तव, देवदुत्थिय के नाम से भी प्रसिद्ध गाथा १६।
२५. स्तंभन पार्श्वस्तव, गाथा ८।
२६. पार्श्व-विज्ञप्तिका।
२७. विज्ञप्तिका, पत्र २६।
२८. षट्स्थान भाष्य, गाथा १७३।
२९. वीर स्तोत्र, गाथा २२।
३०. षोड दशक टीका, पत्र ३७।
३१. महादण्डक।
३२. तिथि पयन्ना।
३३. महावीर चरित्र अपभ्रंश भाषा में रचित, गाथा १०८।
३४. उपधानविधि पंचाशक प्रकरण, गाथा ५०।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभयदेव का साहित्य ६०,००० से अधिक श्लोक-परिमित प्राप्त प्रमाणों के अनुसार वि० सं० ११२० में उन्होंने २१६२५ श्लोक परिमित ग्रन्थ रचे। मात्र एक वर्ष में इतना विस्तृत साहित्य-लेखन कर लेना वास्तव में उनकी रचनात्मक क्षमता का निदर्शन है।

समय-संकेत :—आचार्य अभयदेवसूरि ने टीका-निर्माण का कार्य वि० सं० ११२० से ११२८ तक किया। वि० सं० ११३५ अथवा ११३९ में उनका स्वर्गवास हुआ। इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि अभयदेव ११ वीं-१२ वीं सदी में हुए थे।

दिव्य विभूति आचार्य देवभद्रसूरि

आचार्य देवभद्रसूरि सौम्य-स्वभावी, वैराग्य के मूर्त्त रूप और विशद मति सम्पन्न थे। 'कथारत्नकोष' और 'महावीर चरियं' जैसे विशिष्ट ग्रन्थों की रचना के कारण साहित्य-जगत् में उनका नाम समादृत है। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में आचार्य देवभद्रसूरि का समावेश किया गया है। उनके अनुसार ये खरतरगच्छीय थे।

जीवन-वृत्त :—आचार्य देवभद्रसूरि के गृहस्थ-जीवन के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है। रचनाओं में दी गई प्रशस्तियों के अनुसार आचार्य देवभद्र के गुरु का नाम वाचक सुमति था। आचार्य पद पर आसीन होने से पूर्व इनका नाम गुणचन्द्र था। इन्हें आचार्य पद से पहले गणि पद भी दिया गया था। 'महावीर चरियं' ग्रन्थ में इन्होंने अपना परिचय इसी नाम से करवाया है। इन्हें आचार्य अभयदेवसूरि जैसे विद्वान् आचार्य ने अध्ययन कराया था और अभयदेव की इन पर कृपा एवं स्नेह था। जिनवल्लभसूरि कृत चित्रकूट-प्रशस्ति में इस तथ्य को उजागर किया गया है।

गणि गुणचन्द्र को आचार्य प्रसन्नचन्द्रसूरि ने आचार्य पद प्रदान किया था और उस समय उनका नामकरण देवभद्र हुआ। 'संवेगरंग-शाला' ग्रन्थ-प्रशस्ति के अनुसार देवभद्रसूरि और प्रसन्नचन्द्रसूरि का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था और दोनों एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता रखते थे।[१] देवभद्र ने स्वयं को प्रसन्नचन्द्रसूरि का सेवक स्वीकार किया है।[२] इनके श्रावक शिष्यों में छत्रावली (छत्राल) निवासी

---

१ तद्विनेय श्री प्रसन्नचन्द्रसूरि समभ्यर्थितेन गुणचन्द्र गणिना।

—संवेगरंगशाला, पुष्पिका

२ (क) तस्सेवगेहिं—कथारत्नकोश, प्रशस्ति

(ख) पयपउमसेवगेहिं—पार्श्वनाथ, प्रशस्ति

सेठ शिष्ट और वीर के नाम उल्लेखनीय हैं। आचार्य देवभद्र ने जिनवल्लभ और सोमचन्द्र को आचार्य पदारूढ़ किया था। चन्द्रगच्छ के आचार्य देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्री चन्द्रसूरि ने 'सनत्कुमार चरित' के प्रारम्भ में देवभद्रसूरि एवं अन्य आचार्यों की कृतियों का स्मरण कर उनकी गुण स्तुति की है।

साहित्य :—आचार्य देवभद्र ने दार्शनिक एवं भक्तिपरक साहित्य की रचना की थी। जिनरत्नकोश एवं मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थान्त में दी गई सूची के अनुसार आपके निम्न ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं—

१. महावीर चरित्र, सं० ११३९, ज्येष्ठ सुदि ३।

२. संवेगरंगशाला जो मात्र जिनचन्द्रसूरि कृत संवेगरंगशाला का परिशोधन है। शोधन काल सं० ११२५ है।

३. पार्श्वनाथ चरित, रचना काल वि० सं० ११६८, रचना स्थल आमदत्त मन्दिर, भरूच।

४. कथारत्नकोश, रचना काल सं० ११५८, रचना स्थल भरौंच।

५. प्रमाण-प्रकाश।

६. अनन्तनाथ स्तोत्र।

७. स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र।

८. वीतराग स्तव।

'महावीर चरियं' भगवान महावीर के जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने वाली, प्राकृत में द्वितीय रचना है। यह ग्रन्थ ३००० श्लोक परिमित है। इसमें कुल २३८५ पद्य हैं। इसकी रचना सेठ शिष्ट और वीर की प्रार्थना पर वि० सं० ११३९ में ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया, सोमवार को पूर्ण हुई थी।

देवभद्र का 'कथारत्नकोश' प्रसिद्ध है। इसे कहारयणकोष भी कहा जाता है। इसमें ५० कथाएँ हैं, जो दो बृहद् अधिकारों में विभक्त हैं।

पहला अधिकार है—धर्माधिकारी सामान्य-गुण-वर्णन और दूसरा अधिकार है—धर्माधिकारी विशेष गुण वर्णन। पहले अधिकार में ९ सम्यक्त्व पटल की तथा २४ सामान्य गुणों की—कुल ३३ कथाएँ हैं। दूसरे अधिकार में १७ विशेष गुणों पर १७ कथाएँ दी गई हैं। ग्रन्थ प्राकृत-पद्यबद्ध है, कहीं-कहीं प्राकृत-गद्य, संस्कृत और अपभ्रंश के शब्द भी समाविष्ट किये गये हैं। ग्रन्थ का परिमाण १२३०० श्लोक-प्रमाण है। इसकी रचना वि० सं० ११५८ में[1] भरुकच्छ (भड़ौच) नगर के मुनिसुव्रत चैत्यालय में उन्होंने समाप्त की थी। 'संवेगरंगशाला' को 'आराधना रत्न' भी कहा जाता है। इसकी हस्तलिखित मूल प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। 'पार्श्वनाथ चरित्र' में प्राप्त उल्लेख के अनुसार इसकी रचना सं० ११२५ में हुई। पार्श्वनाथ चरित सं० ११६८ में विरचित है। इसका रचना स्थल है आमदत्त मन्दिर, भरुच। 'संवेगरंगशाला' ग्रन्थ को छोड़कर शेष सभी रचनाएँ मुनि पुण्यविजय जी के सम्पादन में आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९४४ में प्रकाशित हुई हैं। इन पर विस्तृत शोध-जानकारी हेतु द्रष्टव्य है डॉ० जगदीशचन्द्र जैन का प्राकृत साहित्य का इतिहास।

अर्हन्नीति-संयोजक आचार्य जिनवल्लभसूरि

आचार्य जिनवल्लभसूरि आचार्य अभयदेवसूरि के पट्टधर हुए। जिनवल्लभसूरि महाकवि, चारित्रनिष्ठ एवं क्रान्तिकारी आचार्य थे। इन्होंने जहाँ एक ओर विधि-मार्ग के प्रचार में प्रबल पुरुषार्थ किया, वहीं दूसरी ओर अनेक विशिष्ट ग्रन्थों का प्रणयन कर भारतीय साहित्य के गौरव को द्विगुणित किया। महोपाध्याय विनयसागर ने इनके सम्बन्ध में किये गये विस्तृत शोध के आधार पर लिखा है कि

---

१ वसुबाण रुद्दसंखे ११५८ वच्चंते विक्कमाणो कालम्मि।
लिहिओ पढमम्मि य पोत्थयम्मि गणिअमलचन्देण॥
—कथारत्न कोश, प्रशस्ति, ९

यद्यपि अभयदेवाचार्य ने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं विपुल साहित्य से विद्वत्समाज में सदा के लिए अपना स्थान बना लिया और इस कार्य द्वारा श्री वर्धमान और श्री जिनेश्वर द्वारा प्रचारित सुविहित सरिता को प्रगति प्रदान करने में उन्होंने एक अत्यन्त ठोस कार्य किया। सुविहित क्रान्ति की जो प्रचण्ड ज्वाला श्री जिनेश्वर ने एकाएक उत्पन्न कर दी थी, वह कुछ दिनों के लिए मन्द पड़ गई और जनता के लिए चित्त से वह लगभग उतर सी गई। उसी क्रान्ति की सुषुप्त और विस्मृतप्रायः चिनगारियों को लेकर जैन समाज के जन-जन के मन में पुनः आग लगाने और सुविहित विचार-धारा के लिए अदम्य उत्साह एवं लगन उत्पन्न करने तथा चैत्यवास के विरुद्ध एक व्यापक और विकराल आन्दोलन को पुनः जागरित करने का श्रेय श्री जिनवल्लभसूरि को है।[1]

जिनवल्लभसूरि का कृतित्व इसी तरह बहुव्यापी एवं महत्वपूर्ण है। आचार्य जिनदत्तसूरि ने इनकी तुलना महाकवि कालिदास, माघ और वाक्पतिराज जैसे उच्चकोटि के कवियों के साथ की है। यथा—

सुकविमाघं ते प्रशंसन्ति ये तस्य शुभगुराः,
साधु न जानते ह्या मतिजितसुरगुरोः।
कालिदासः कविरासीद् यो लोकेर्वर्ण्यते,
तावद् यावद्जिनवल्लभ कविर्नाकर्ण्यते।
सुकविं विशेषितवचनो यो वाक्यपतिराजकविः।
सो पि जिनवल्लभपुरतो न प्राप्नोति कीर्ति कांचित्।[2]

जीवन-वृत्त :—जिनवल्लभसूरि के व्यक्तित्व एवं जीवन-वृत्त पर परवर्ती विद्वानों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रभावक चरितकार एवं

---

१ वल्लभ भारती, अध्याय-१, पृष्ठ ३५-३६

२ चर्चरी टीका, पृष्ठ ५

उपाध्याय जिनपाल के उल्लेखानुसार उस समय आसिका नगरी में कूर्चपुर गच्छीय चैत्यवासी जिनेश्वर नामधेयक एक आचार्य मठाधीश रहते थे। उनके पास अनेक छात्र विद्याध्ययन करने आते थे। बालक वल्लभ भी उन्हीं में से एक था। स्वयं आचार्य ने देखा कि बालक वल्लभ अपने अन्य सहपाठियों से अधिक कुशाग्र है। एक दिन एक अद्भुत घटना भी घटी। जिनवल्लभ को चैत्यालय के बाहर एक पत्र पड़ा मिला, जिसमें 'सर्पाकर्षिणी' और 'सर्पमोचिनी' नामक दो विद्याएँ उल्लिखित थीं। वल्लभ ने पत्र का उपयोग किया। उसमें निर्दिष्ट विधि के अनुसार जिनवल्लभ ने सर्वप्रथम पहली विद्या का मंत्रोच्चारण किया, जिसके प्रभाव से चारों ओर से सर्प ही सर्प आने लगे। वल्लभ ने समझ लिया कि यह विद्यामन्त्र का प्रभाव है। वह निर्भय होकर दूसरे मन्त्र का उच्चारण करने लगा, जिससे समागत सर्प वापस लौट गये। यह समाचार जब जिनेश्वराचार्य ने सुना तो वे उसके प्रति अधिक आकृष्ट हुए और उन्होंने उसे अधिकृत करने का संकल्प कर लिया। तद्नुसार जिनवल्लभ को दीक्षित कर अपना शिष्य बना लिया। आचार्य जिनेश्वर ने जिनवल्लभ को श्रमपूर्वक अध्ययन कराया और उसे तर्क, नाटक, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, कोष आदि विविध विषयों में पारंगत किया।

एक बार आचार्य जिनेश्वर को ग्रामान्तर जाने का संयोग उपस्थित हुआ। जाते समय उन्होंने वहाँ की व्यवस्था एवं संरक्षण का कार्य जिनवल्लभ को सौंपा। अपने गुरु के प्रवास काल में जिनवल्लभ ने वहाँ ग्रन्थों से भरी एक सन्दूक देखी। उत्सुकतावश वह उसे खोलकर एक ग्रन्थ निकाला जिसमें साधु के आचार-पथ का वर्णन था। वह उसे पढ़ गया। उससे उसे ज्ञात हुआ कि चैत्यवासियों का जो आचार है वह शास्त्र के सर्वथा विपरीत

है। उसमें लिखा था, साधु को ४२ दोषों से रहित होकर गृहस्थ-गृहों से मधुकरी वृत्ति से थोड़ा-थोड़ा आहार लाना चाहिए। इस वृत्ति से साधु की शरीर धारणा हो जाती है और किसी को कष्ट भी नहीं होता। साधुओं को एक ही स्थान पर निवास नहीं करना चाहिए और न सचित्त फल-फूलादि का स्पर्श करना चाहिए। यह बात जिनवल्लभ के मर्म को स्पर्श कर गई और वह उद्विग्न हो उठा। उसने सोचा, अहो! जिससे मुक्ति प्राप्त होती है वह तो व्रत और आचार कोई दूसरा ही है, हमारा तो यह आचार बिल्कुल आगम विरुद्ध है। हम तो स्पष्ट ही दुर्गति के गर्त्त में पड़े हुए हैं और हम पूर्णतया निराधार हैं।

जिनवल्लभ ने ग्रन्थ पुनः सन्दूक में रख दिया। जब आचार्य जिनेश्वर वापिस लौट आये तो यह जानकर वे प्रसन्न हुए कि जिन-वल्लभ ने उनकी अनुपस्थिति में सम्पूर्ण प्रबन्ध कुशलतापूर्वक किया। जिनेश्वर ने सोचा कि मैंने जिनवल्लभ को सभी विषयों में पारंगत कर दिया है। किन्तु यह अभी तक जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ है। इस सिद्धान्त के ज्ञाता तो आचार्य अभयदेवसूरि हैं। अतः इसे उन्हीं के पास भेजा जाए और तदनंतर इसे अपनी गद्दी पर आसीन कर दिया जाए। यह निश्चय करने जिनवल्लभ को वाचनास्वामी पद से विभूषित कर जिनेश्वर नामक एक अन्य साधु के साथ अणहिलपुर पत्तन भेज दिया। अणहिलपुर जाते समय जिनवल्लभ ने मार्गवर्ती मरुकोट नगर में माणू श्रावक द्वारा निर्मापित चैत्यालय की प्रतिष्ठा की।

वहाँ से चलकर वह अणहिलपुर पाटण में आचार्य अभयदेवसूरि के पास पहुँचा। अभयदेव सामुदायिक चूड़ामणि ज्ञान के धनी थे। अतः उन्होंने जिनवल्लभ को देखते ही पहचान लिया कि यह कोई भव्य जीव है। अभयदेव ने पूछा—तुम्हारा यहाँ किस प्रयोजन से आना हुआ है?

जिनवल्लभ ने कहा, हमारे गुरुदेव आचार्य श्री जिनेश्वर ने

सिद्धान्त-अध्ययन के लिए मुझे आपके पास भेजा है। यह सुनकर अभयदेवसूरि ने विचार किया कि यद्यपि यह चैत्यवासी गुरु का शिष्य है, तथापि योग्य है। इसकी योग्यता, नम्रता और शिष्टता देखकर वाचना देने को हृदय स्वयमेव चाहता है क्योंकि शास्त्र में बतलाया है—

मरिज्जा सह विज्जाए, कालंमि आ गए विऊ।
अपत्तं च न वाइज्जा, पत्तं च न विमाणए॥

अर्थात् मृत्यु-समय आने पर भी विद्वान मनुष्य अपनी विद्या के साथ भले ही मर जाए, परन्तु कुपात्र को शास्त्र वाचना न दे और पात्र के आने पर उसे वाचना न देकर उसका अपमान भी न करे।

इस प्रकार शास्त्रीय वाक्यों से पूर्वाग्रह का निरसन कर आचार्य ने जिनवल्लभ को सिद्धान्त वाचना की अनुमति दे दी और उसके बाद अभयदेवसूरि ने जिनवल्लभ को महान् आगमज्ञ बना दिया। एक ज्योतिषाचार्य ने जिनवल्लभ को ज्योतिष का उच्चतम् ज्ञान भी दिया। अन्त में जब अध्ययन समाप्त हो गया तो जिनवल्लभ ने अभयदेव से जिनेश्वराचार्य के पास जाने की आज्ञा माँगी तो अभयदेव ने कहा, वत्स! मैंने तुम्हें मनोयोगपूर्वक सिद्धान्त वाचना दी है। मेरा एक ही कहना है कि तुम कभी सिद्धान्त विरुद्ध आचार-व्यवहार न करना। जिनवल्लभ ने अभयदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर वहाँ से प्रस्थान कर दिया। मार्गवर्ती मरुकोट में जहाँ उन्होंने चैत्यालय की प्रतिष्ठा की थी, वहाँ पहुँचे तो मन्दिर में विधिवाक्य के रूप में निम्नलिखित पद्य लिख दिया, जिनका पालन करके अविधि चैत्य भी विधि-चैत्य होकर मुक्ति का साधन बन सके—

अत्रोत्सूत्रिजनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यासदा
साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि।

जाति ज्ञाति कदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि
त्याज्ञा त्रेयमनिश्रिते विधि कृते श्री जैन चैत्यालये ।।

अर्थात् इस मन्दिर में उत्सूत्रभाषी व्यक्तियों का आवागमन/व्यवहार नहीं होगा, रात्रि में स्नात्र-महोत्सव भी नहीं होगा। साधुओं का ममता भाव/अधिकार इस मन्दिर में नहीं होगा, न रात्रि में स्त्रियों का प्रवेश। ज्ञाति जाति का दुराग्रह भी नहीं होगा अर्थात् किसी जाति-ज्ञाति का आधिपत्य इस मन्दिर पर नहीं रहेगा और इस मन्दिर में श्रावक लोग परस्पर ताम्बूल का आदान-प्रदान व भक्षण नहीं करेंगे। इस प्रकार की ये शास्त्र विहित आज्ञायें किसी की निश्रा रहित और विधिपूर्वक स्थापित इस जैन मन्दिर में परवर्ती काल में भी रहेगी। अभिप्राय यह है कि इस विधि का पालन करना चाहिये, जिससे धर्म क्रिया मुक्ति-साधक बने।

तदनन्तर जिनवल्लभ ने आशिका नगरी की ओर विहार किया। वे आशिका नगरी से तीन कोश पूर्व माइयड़ नामक ग्राम में जाकर ठहर गये और एक व्यक्ति को पत्र देकर अपने गुरु के पास भेजा, जिसमें लिखा था—आपकी कृपा से सद्गुरु आचार्य अभयदेवसूरि से सिद्धान्त वाचना ग्रहण करके मैं माइयड़ ग्राम में आया हूँ। आप कृपाकर यहीं पधारकर मुझसे मिलें। पत्र पढ़कर जिनेश्वराचार्य ने विचार किया कि जिनवल्लभ को यहाँ आना चाहिये था। मुझे वहाँ बुलाने जैसा अनुचित कार्य इसने किसलिये किया? खैर! दूसरे दिन जिनेश्वराचार्य अनेक नागरिकों के साथ अपने प्रिय शिष्य से मिलने के लिये माइयड़ ग्राम पहुंचे। जिनवल्लभ गुरु का स्वागत करने सामने गये और वन्दना की। गुरु ने क्षेम-कुशल पूछा। जिसका उन्होंने समुचित उत्तर दिया। इसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आया। और उसने ज्योतिष की कई समस्याओं को उपस्थित किया। जिनवल्लभ द्वारा उनका सम्यक् समाधान देखकर

जिनेश्वराचार्य स्वयं चकित रह गए। अन्त में जिनेश्वर ने पूछा—जिनवल्लभ ! यह क्या बात है कि तुम सीधे आशिका के अपने चैत्य-वास में न आकर मुझे यहाँ बुलाया ?

वह समय जिनवल्लभ के संकल्प, संयम और धैर्य की परीक्षा का था। उन्होंने अत्यधिक धैर्यता के साथ सविनय कहा—भगवन्, सद्-गुरु के श्रीमुख से जिनवचनामृत का पान करके भी अब इस चैत्यवास का सेवन कैसे करूँ, जो कि मेरे लिये विषवृक्षवत् है। जिनवल्लभ का यह वचन जिनेश्वर की आशाओं पर तुषारपात करने वाला था। वे बोले—जिनवल्लभ ! मैंने सोचा था कि मैं तुम्हें अपना सारा उत्तरा-धिकार देकर स्वयं सद्गुरु के पास जाकर वसतिवास को स्वीकार करूँगा। जिनवल्लभ बोले—यह तो बहुत सुन्दर बात है। चलें, अपने दोनों ही चलकर सद्गुरु के पास सन्मार्गारूढ़ होवें। किन्तु जिनेश्वर बोले—वत्स ! मुझमें इतनी निःस्पृहता कहाँ कि गच्छ, कुल, चैत्य आदि को ऐसे ही छोड़ दूँ। हाँ ! जब तुम्हारी अभी वसतिवास स्वीकार करने की प्रबल इच्छा जागृत हो गई है तो तुम भले ही उसे स्वीकार कर लो।

इस प्रकार गुरु से सम्मति प्राप्तकर वे वापस पत्तन में गए। आचार्य अभयदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और अपने आपको कहा कि मैंने इसके सम्बन्ध में जैसा सोचा था, वैसा ही सिद्ध हुआ। उन्होंने सोचा कि यद्यपि जिनवल्लभ मेरा पट्टधर होने की पूर्ण क्षमता रखता है परन्तु समाज कभी भी इसे स्वीकार नहीं करेगा कि मेरा पट्टधर कोई चैत्यवासी आचार्य का शिष्य बने। अतः उन्होंने वर्धमान को आचार्यपद देकर जिनवल्लभगणि को उपसम्पदा प्रदान की और सर्वत्र विचरण करने की आज्ञा दी।[1]

जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की इसका उल्लेख

---

[1] युगप्रधानाचार्य गुर्वावली

उन्होंने स्वयं भी किया है कि सुविहित शिरोमणि और श्रेष्ठ गीतार्थ अभयदेवसूरि से लोकों में अच्चर्य कूर्च्यपुरगच्छीय जिनेश्वरसूरि का शिष्य गणि पद धारक जिनवल्लभ ने उपसम्पदा और सिद्धान्त ज्ञान प्राप्त किया।[१]

जिनवल्लभ के ही पट्टधर आचार्य जिनदत्तसूरि ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।[२]

जिनवल्लभ अभयदेवसूरि की आज्ञा से विविध अंचलों में भ्रमण करने लगे। उधर एक दिन अभयदेवसूरि ने आचार्य प्रसन्नचन्द्रसूरि को एकान्त में बुलाकर कहा—मेरे पाट पर शुभ लग्न देखकर जिनवल्लभ-गणि को स्थापित कर देना। किन्तु देवयोग से इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और प्रसन्नचन्द्र कालधर्म को प्राप्त हो गए। मृत्यु से पूर्व उन्होंने आचार्य देवभद्रसूरि को अभयदेवसूरि के प्रस्ताव से अवगत करा दिया। जिनवल्लभ अभयदेव-सूरि के स्वर्गवास के पश्चात् गुर्जर प्रदेश गये किन्तु गुर्जर प्रदेश में सुविहित सिद्धान्त-प्रचार में उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। गुजरात चैत्यवासियों का गढ़ केन्द्र था। अतः वहाँ चैत्यवासी उनके विरुद्ध थे और वसतिवासियों ने उनका समुचित सम्मान इसलिये नहीं किया क्योंकि वे चैत्यवास से संसर्गित थे। अन्ततः जिनवल्लभ ने अन्य साधुओं को साथ लेकर मेदपाट (मेवाड़) की ओर विहार किया। वह क्षेत्र भी चैत्यवासियों से प्रभावित था किन्तु जिनवल्लभ को वहाँ अपनी प्रतिभा की छाप जमाते अधिक समय नहीं लगा। यद्यपि जिनवल्लभ को अनेक विरोधों का सामना करना पड़ा किन्तु वे विरोध उनके लिये अनर्थकारक नहीं अपितु अनागत में लाभदायक सिद्ध हुए।

---

१ अष्ट सप्ततिका, १

२ द्रष्टव्य विंशिका, १-२

जिनवल्लभ ने रुकने के लिए श्रावकों से स्थान याचना की तो उन्होंने कहा कि यहाँ यह चण्डिका मठ है। वहाँ यदि ठहरना चाहें तो ठहर सकते हैं। जिनवल्लभ उनके दुष्भिप्राय को समझ गये, परन्तु यह विचार कर कि देव, गुरु और धर्म की कृपा से सब अनुकूल होगा, उसी मठ में ठहर गये। चण्डिका देवी जिनवल्लभ के आत्मबल, ज्ञानबल और योगबल से अत्यधिक प्रभावित हुई और जिनवल्लभ की सिद्धिदात्री बनी। इससे श्रावकवर्ग चकित रह गया। क्योंकि उन्होंने तो समझा था कि चण्डिका के क्रोध से जिनवल्लभ भयभीत हो जायेंगे।

जिनवल्लभ की विद्वता से प्रभावित होकर अनेक पण्डित एवं मनीषीजन उनके पास आने लगे। जिनवल्लभ के पाण्डित्य/चारित्र से न केवल ब्राह्मण आदि आकर्षित हुए, अपितु चैत्यवास समर्थक श्रावक भी आकर्षित हुए। सड्ढक, साधारण, सुमति, पल्हक, वीरक, मानदेव, बन्धेक, सोमिलक, वीरदेव प्रभृति श्रावकों ने जिनवल्लभ को अपना सद्गुरु स्वीकार किया।

जिनवल्लभ के प्रखर ज्योतिष ज्ञान ने अनेक लोगों को सहज ही प्रभावित किया। एक बार साधारण नामक श्रावक ने जिनवल्लभसूरि के पास बीस हजार रुपयों का परिमाण व्रत अंगीकार करना चाहा। परन्तु जिनवल्लभ ने ज्योतिषाधार पर उसके अनागत जीवन को विशेष वैभवपूर्ण जानकर उसे कहा कि यह परिमाण तो अत्यन्त अल्प है और अधिक बढ़ाओ। धर्मनिष्ठ किन्तु निर्धन श्रावक जिनवल्लभ के वक्तव्य पर आश्चर्यित हुआ। अन्ततः उसने एक लाख का सर्व-परिग्रह निश्चित किया। कालान्तर में साधारण एक लखपति बना। इस तरह जिनवल्लभ की भविष्यवाणी सार्थक सिद्ध हुई, जिससे चित्रकूटस्थ श्रावक प्रभावित हुए। जब जिनवल्लभ के ज्योतिषज्ञान की प्रसिद्धि सर्वत्र फैलने लगी तो एक ज्योतिष-पण्डित

उनके पास आया और कहा कि मैं बिना गणना किये ही दो-तीन लग्नों का प्रतिपादन कर सकता हूँ क्या आप भी ऐसा करने में सक्षम हैं ? जिनवल्लभ ने कहा कि थोड़ा सा सक्षम हूँ। बताइये कितने लग्नों का प्ररूपण करूँ—दस या बीस ? इसी के साथ जिनवल्लभ ने लगातार विविध लग्नों का निरूपण किया। अन्त में जिनवल्लभ बोले—भूदेव ! देखें वह आकाश में जो दो हाथ का अभ्रखण्ड दृष्टि-गोचर हो रहा है, उससे कितनी वर्षा होगी ? विप्र को निरुत्तर देख कर जिनवल्लभ ने कहा वह दो घड़ी के भीतर विराट् रूप धारण कर अति जल वृष्टि करेगा। सत्यतः ऐसा ही हुआ। तदर्थ जिनवल्लभ-गणि कीर्तिमान हुए।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी के दिन जिनवल्लभ ने श्रावक संघ से कहा कि आज हमें भगवान् महावीर का छट्ठा कल्याणक मनाना है, तो वह चकित हुआ। क्योंकि उस समय संघ च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य और मोक्ष—इन पाँच अवस्थाओं को ही कल्याणक मानता था, किन्तु जब उसे आगमिक प्रमाण देकर समझाया गया तो वह गर्भाप-हार नामक छट्ठे कल्याणक को मानने के लिए सहर्ष तैयार हो गया। जिनवल्लभ चतुर्विध संघ के साथ चैत्यालय दर्शन-वन्दनार्थ गए, किन्तु चैत्यालय की एक आर्या ने चैत्यद्वार यह कहकर बन्द कर दिया कि भगवान् महावीर का गर्भापहार का उत्सव किसी ने नहीं मनाया इसलिए मैं यह उत्सव इस मन्दिर में नहीं मनाने दूँगी। अन्त में एक श्रावक के गृह में ही भगवान महावीर की प्रतिमा-स्थापित कर वह उत्सव सम्पन्न किया गया। इस घटना से सुविहित श्रावक वर्ग ने स्वतन्त्र मन्दिर निर्माण करने की योजना बनाई और तदनुसार चित्तौड़ पर्वत पर दो मन्दिरों का निर्माण हुआ। एक मन्दिर पर्वत पर और दूसरा पर्वत की तलहटि में। जिसकी प्रतिष्ठा जिनवल्लभ गणि ने करवाई।

चित्रकूटीय वीर चैत्य प्रशस्ति में जिनवल्लभ गणि ने इन नव-

निर्मापित विधि चैत्यों का प्रतिष्ठा समय शक संवत् १०२८ अर्थात् विक्रम संवत् ११६३ निर्दिष्ट किया है।[१] जिसके आधार पर महोपाध्याय विनयसागर ने अनुमान किया है कि वि० सं० ११५८ और ११६० के पूर्व ही जिनवल्लभगणि गुजरात से चलकर चित्तौड़ आये और वहाँ रहते हुए तत्रस्थ श्रेष्ठियों को आयतन विधि (विधिपक्ष) का उपासक बनाया एवं उपदेश देकर नूतन विधि चैत्यों का निर्माण करवाया। इसी बीच अर्थात् वि० सं० ११६० के आसपास चित्तौड़ में ही महावीर स्वामी की षट् कल्याणकों का सैद्धान्तिक रूप से प्रतिपादन किया गया होगा।[२]

एकदा मुनिचन्द्राचार्य ने अपने दो शिष्यों को शास्त्राध्ययन करने के लिए जिनवल्लभ के पास भेजा। जिनवल्लभ भी उनको अधिकारी समझकर सिद्धान्तों की वाचना देने के लिए सहमत हो गए। यद्यपि प्रत्यक्ष में तो वे सिद्धान्त वाचना के लिए आये थे, किन्तु परोक्षतः वे एक षड़यन्त्र का आयोजन कर रहे थे। अतः वे सर्वदा जिनवल्लभ का अहित ही सोचा करते थे। उनके श्रावकों को बहकाने के विचार से वे उनसे प्रीति व्यवहार करने लगे। एक दिन उन्होंने अपने गुरु मुनिचन्द्राचार्य को एक पत्र लिखा और उस पत्र को एक पुस्तक में रख दिया। वाचना ग्रहण करते समय वह पत्र पुस्तक से गिर पड़ा। जिनवल्लभ की दृष्टि उस पत्र पर पड़ गई। बस सारा भण्डाफोड़ हो गया। उस पत्र में लिखा था कि गणि जिनवल्लभ के कई श्रावकों को तो हमने अपने अनुकूल कर लिया है। कुछ दिनों में ही अपने अधीन सबको कर लेने का दृढ़ संकल्प है। जिनवल्लभ को उनकी मनोवृत्ति पर खेद हुआ और उनके मुख से अनायास ही निकल पड़ा—

> आसीज्जनः कृतघ्नः क्रियमाणघ्नस्तु साम्प्रतं जातः।
> इति मे मनसि वितर्को भविता लोकःकथं भविता॥

---

१ वीर चैत्य प्रशस्ति, पद्य ७८

२ वल्लभ-भारती, पृष्ठ ४६

अर्थात् किये हुए उपकार को न मानने वाले कृतघ्न पुरुष पहले भी थे, किन्तु प्रत्यक्ष में किये जाने वाले उपकार को न मानने वाले भी कृतघ्न पुरुष तो इस समय देखे जाते हैं। इससे मुझे पुनः पुनः विचार आता है कि भविष्य में होने वाले लोग कैसे होंगे ?

एक बार जिनवल्लभ बहिर्भूमिका जा रहे थे। मार्ग में एक पण्डित मिला और उसने उनके सामने एक समस्या पद प्रस्तुत किया—

कुरङ्ग किं भृङ्गो मरकत मणिः किं किम शनिः।

जिनवल्लभ ने तत्काल समस्या पूर्ति उसे सुना दी—

चिरं चित्तोद्याने वसति च मुखाब्जं पिबसि च,
क्षणा देणा क्षीणां विषयविषमोहं हरसि च।
नृप! त्वं मानाद्रिं दलयसि रसायां च कुतुकी,
कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकत मणिःकिं किम शनिः॥

अर्थात् हे राजन्! आप मृगनयनी सुन्दरियों के चित्त रूपी उद्यान में विचरते हैं, इसलिए आपके प्रति उद्यानचारी हरिण का संदेह होता है। आप उन्हीं सुन्दरियों के मुख-कमलों का रसास्वादन करते हैं, इसलिए आपके विषय में भ्रमर की आशंका होती है। आप कामिनियों की वियोग-विष से उत्पन्न मूर्च्छा को दूर करते हैं। अतः आप मरकत-मणि जैसे शोभित हैं। आप अभिमानियों के मान रूपी पर्वत को चूर-चूर कर देते हैं। अतः आपके विषय में वज्र की आशंका होने लगती है।

सुन्दर अभिप्राय और अलंकार प्रधान समस्या पूर्ति को सुनकर वह पण्डित अतिप्रसन्न हुआ और कहने लगा कि लोक में आपकी जैसी प्रसिद्धि हो रही है, वह पूर्णतः सत्य है।

इसी तरह गणदेव नामक श्रावक यह सुनकर जिनवल्लभ के पास चित्तौड़ से आया कि उनके पास स्वर्ण सिद्धि है। जिनवल्लभ ने उसके

मनोभिप्राय को परिज्ञात कर और उसे योग्य पात्र समझकर धीरे-धीरे ऐसी धर्मदेशना दी कि जिससे अल्प समय में ही वह वैराग्य-वासित हो गया। एक दिन जिनवल्लभ ने गणदेव से कहा—"भद्र! क्या तुम्हें स्वर्णसिद्धि की विधि बताऊँ?" गणदेव ने कहा—"भगवन्! अब मुझे स्वर्ण सिद्धि से कोई प्रयोजन नहीं है। मेरे पास जो बीस रुपये हैं, वही पर्याप्त है। उनके द्वारा ही मैं व्यापार करता हुआ गृहस्थोचित श्रावक-धर्म का परिपालन करूंगा। अधिक परिग्रह तो अन्ततः दुःख का कारण है।" जिनवल्लभ ने विचार किया कि इसकी जन्मकुण्डली और हस्त रेखा से विदित होता है कि इसके द्वारा भव्य पुरुषों में धर्म-वृद्धि होगी। गणदेव की वक्तृत्व-शक्ति उत्तम थी, इसीलिए उसे धर्म-तत्वों का उपदेश देकर धर्म-प्रचार के लिए बागड़ देश की ओर भेजा। स्व-निर्मित "कुलक" लेखों का भी उसे अध्ययन करा दिया, जिनके द्वारा उसने वहाँ लोगों को विधिमार्ग का पूर्ण स्वरूप बताकर अनेक लोगों को खरतरगच्छीय मन्तव्यों का अनुयायी बना दिया।

जिनवल्लभ की प्रवचन शक्ति अत्यन्त प्रभावोत्पादक और विलक्षण थी। उनका प्रवचन श्रवणार्थ अनेक प्रातिभ विद्वान आया करते थे। जब जिनवल्लभ विक्रमपुर के अंचलों में विचरण कर रहे थे, उसी समय वे मरुकोट्ट भी पहुंचे। वहाँ जिनवल्लभ ने गणि धर्मदास कृत उपदेशमाला की निम्नांकित गाथा पर छः मास तक व्याख्यान दिया—

> संवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचन्दो।
> इय विहरिया निरसणा, जइज्ज एओवमाणेणं॥

जिनवल्लभ की स्पष्टवादिता भी आश्चर्यचकित करने वाली थी। एक दिन प्रवचन क्रम में निम्नोक्त गाथा आई—

> धिज्जाईण गिहीणं जाइणं, (जई) पासत्थाईण वावि दट्ठूणं।
> जस्स न मुज्झई दिट्ठी, अमूढदिट्ठि तय बिंति॥

प्रस्तुत पद्य की जिनवल्लभ ने सविस्तार चर्चा की, जिसमें ब्राह्मणों की आलोचना हुई। ब्राह्मण-पण्डित इससे कुपित हुए और सोचा कि जैसे-तैसे उन्हें विवाद में परास्त करें। किन्तु जिनवल्लभ से टक्कर लेना कोई हंसी-खेल नहीं था। उन्होंने प्रधान ब्राह्मण पण्डित को भोजपत्र में एक वृत्त लिखकर भेजा—

मर्यादाभङ्गभीतेरमृतमयतया धैर्यगाम्भीर्ययोगात्।
न क्षुभ्यन्ते च तावन्नियमितसलिलाः सर्वदैते समुद्राः ॥
आहो! क्षोभं व्रजेयुः क्वचिदपि समये दैवयोगात् तदानीं।
न क्षोणी नाद्रिचक्रं न च रविशशिनौ सर्वमेकार्णवं स्यात् ॥

अर्थात् अमृत जैसे स्वच्छ नियमित जल से परिपूर्ण सागर धीरता, गम्भीरता और मर्यादाभङ्ग के डर से क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं। यदि दैव योग से क्षोभ उत्पन्न हो जाये तो पृथ्वी, पर्वत, सूर्य, चन्द्र— इन सबका तो पता भी न चले। सारा जगत् जलमय ही हो जाये।

यह पद्य पढ़कर प्रधान ब्राह्मण पण्डित ने अन्य पण्डितों को समझा कर शान्त कर दिया।

जिनवल्लभ की एक अन्य घटना का उल्लेख भी अनेक परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध है। घटना यह है कि धारानगरी में राजा नरवर्म की राज सभा में परदेश से दो पण्डित आये और उन्होंने पण्डितों के सम्मुख एक समस्या पद प्रस्तुत किया—

कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः।

राजसभा के अनेक पण्डितों ने इस समस्या की पूर्ति की किन्तु उन दोनों पण्डितों को आत्म-तोष नहीं हुआ। तब उपस्थित पण्डितों में से किसी ने कहा कि चित्रकूट (चित्तौड़) में जिनवल्लभ नामक श्वेताम्बर साधु हैं, वे सर्व विद्याओं में निपुण हैं। उनके द्वारा इस समस्या की पूर्ति करवानी चाहिये। नरवर्म ने साधारण नामक श्रेष्ठिके पास

एक अनुरोध पत्र प्रेषित किया जिसमें यह सूचित था कि "कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः" इस समस्या की पूर्ति जिनवल्लभगणि से शीघ्र करवाकर भेजें। जिनवल्लभ ने इस प्रकार उसकी समस्या पूर्ति की—

रे रे नृपाः श्री नरवर्मभूप
प्रसादनाय क्रियतां नताङ्गः।
कण्ठे कुठारः कमठे ठकार
श्चक्रे यदश्वोग्रखुराग्रघातैः ।।

इस समस्या पूर्ति ने न केवल परदेशी विद्वानों को प्रसन्न किया अपितु स्वयं नरवर्म भी आह्लादित हुआ और वह जिनवल्लभ का भक्त हो गया। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उक्त घटना वि० सं० ११६३ के लगभग हुई थी।

तदनन्तर जब जिनवल्लभ धारानगर गये तब राजा ने उन्हें तीन लाख 'पारुत्थक' मुद्रा/तीन गांव लेने के लिये अत्यधिक आग्रह किया। जिनवल्लभ ने उसे स्वीकार नहीं किया। कारण वे अपरिग्रही और निस्पृह मुनि थे। अन्त में राजा ने जिनवल्लभ को चित्तौड़ में निर्मापित दो विधि चैत्यों की पूजा के लिये यह धन/ग्राम दान में दे दिया। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार राजा द्वारा पुनः-पुनः धन ग्रहण का आग्रह किये जाने पर जिनवल्लभ ने कहा कि यदि आपका यही आग्रह है तो चित्तौड़ में श्रावक संघ द्वारा निर्मापित मन्दिरद्वय में पूजा-निमित्त इस बृहत् राशि में से दो रुपये प्रतिदिन प्रदान करते रहें। राजा जिनवल्लभ की त्याग-वृत्ति से प्रभावित हुआ और उनके निर्देशानुसार नियम व्यवहृत कर दिया।

चित्रकूट से जिनवल्लभ नागौर-संघ की विनती स्वीकार कर नागपुर (नागौर) गये। वहाँ उन्होंने भगवान नेमिनाथ के मन्दिर और मूर्ति की सविधि प्रतिष्ठा करवाई। यह मन्दिर श्रेष्ठी धनदेव

ने बनवाया था, जिसका उल्लेख तत्कालीन देवालय के निर्मापक श्रेष्ठी धनदेव के ही पुत्र कवि पद्मानन्द ने किया है।[१]

जिनवल्लभ वहाँ से नरवरपुर पधारे, जहाँ उन्होंने नवनिर्मित मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाई। नागपुर और नरवरपुर दोनों ही स्थानों के मन्दिरों पर रात्रि में भगवान के नैवेद्य आदि चढ़ाना, रात्रि में रास, नृत्य आदि के निषेध के लिए शिलालेखों के रूप में विधि अंकित करवा दी, जिसे शिलालेख में "मुक्ति साधक विधि" नाम दिया।

मरुकोट की घटना है कि एक बार जिनवल्लभ ने मार्ग पर जा रहे एक अश्वारूढ़ वर को देखा, जिसके साथ में कौटुम्बिकजनों का विशाल समुदाय था। स्त्रियाँ वैवाहिक मंगल गीत गा रही थीं। यह देखकर जिनवल्लभ ने उपस्थित श्रावकों से कहा कि देखो! संसार की स्थिति कैसी विचित्र है? ये स्त्रियाँ जो इस समय उत्साहपूर्वक मंगल गान गा रही हैं, रोती हुई लौटेंगी। वर वधुगृह पहुँचा और घोड़े से नीचे उतरकर मकान में जाने के लिये सीढ़ी पर चढ़ने लगा। अकस्मात् उसका पैर फिसल गया और वह गिरकर घरट की कील के ऊपर पड़ा। तीक्ष्ण आघात ने वर के प्राण का हरण कर लिया। स्त्रियाँ रोती-बिलखती लौट पड़ीं, जिसे देखकर श्रावकों ने सोचा कि जिनवल्लभ भी त्रिकालज्ञ हैं।

गणिजिनवल्लभ[२] मरुकोट से नागपुर प्रत्यावर्तित हुए। उनकी प्रसिद्धि और प्रतिभा को देखकर आचार्य देवभद्रसूरि को अपने गुरु प्रसन्नचन्द्रसूरि का अन्तिम वाक्य स्मरण हो आया कि अभयदेवसूरि का पट्टधर गणिजिनवल्लभ को बनाना। यह विचार व्युत्पन्न होने पर

---

१ सिक्तः जिनवल्लभस्य सुगुरोः शान्तोपदेशामृतैः।
श्रीमन्नागपुरे चकार सदन श्री नेमिनाथस्य यः॥

२ श्रेष्ठी श्री धनदेव इत्यभिधया ख्यातश्च तस्याङ्गजः।
पद्मानन्द शतं व्यधत्त सुधिया मानन्द सम्पत्तये॥

—वैराग्य शतक

उन्होंने जिनवल्लभ को पत्र लिखा कि तुम शीघ्र अपने समुदाय सहित चित्रकूट पहुँचो, मैं भी विहारकर वहाँ पहुँच रहा हूँ। जिनवल्लभ ने आदेश का अनुगमन किया। देवभद्रसूरि ने जिनवल्लभ को विधिवत् आचार्य पद प्रदान कर अभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थापित किया। उसी समय से गणि जिनवल्लभ आचार्य जिनवल्लभसूरिके नाम से कीर्तिमान हुए। जिनवल्लभ के आचार्य पदारूढ़ होने का समय वि० सं० ११६७, आषाढ़ शुक्ल ६ और स्थान वीरप्रभू चैत्यालय, चित्तौड़ है।

वि० सं० ११६७, कार्तिक कृष्ण १२ की रात्रि के चतुर्थ प्रहर में जिनवल्लभसूरि का शुक्लध्यान में स्वर्गगमन हुआ। पट्टावलियों में लिखा है कि उन्होंने चतुर्थ देवलोक प्राप्त किया।

शिथिलाचार-उन्मूलन :—खरतरगच्छ की तेजस्विता इसी में है कि इसने आचारपरक शिथिलताओं को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। चैत्यवासियों की शिथिलाचारमूलक वृत्तियों का खरतरगच्छ ने खुलकर विरोध किया।

जिनवल्लभसूरि ने भी चैत्यवास और शिथिलाचार के उन्मूलन में अथक् प्रयास किया था। यद्यपि आचार्य जिनेश्वरसूरि और अभयदेव-सूरि आदि ने शिथिलाचार के पेड़ को काट फेंकने का स्तुत्य प्रयत्न किया था, किन्तु वे उसे जड़ से न उखाड़ पाए। कारण बारहवीं सदी में भी शिथिलाचार का प्रभुत्व स्पष्ट दिखाई देता है। विक्रम संवत् ११४७ में नाडोल के चौहान नृपति जोजलदेव ने अपनी आज्ञा घोषित करवायी और उसे अनेक स्थानों में उत्कीर्ण भी करवाया था कि एक मन्दिर से सम्बद्ध वेश्याओं को अपने वर्ग सहित दूसरे मन्दिर की यात्रा में भी भाग लेना पड़ेगा। किसी आचार्य मुनि ने इसका विरोध किया तो उसे दण्ड दिया जाएगा। जिनवल्लभसूरि ने राजाज्ञा होते हुए भी इन सबका विरोध किया और उसे आमूल नष्ट करने में आशातीत सफलता प्राप्त की।

प्रतिबोध एवं गोत्र-स्थापन :—जिनवल्लभ ने ग्रामानुग्राम विहार कर जन-जागृति का काम किया। आम जनता पर तो उनका प्रभुत्व था ही, राजाओं पर भी कम नहीं था। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार धारा-नगरी का नरेश नरवर्म जिनवल्लभ की विद्वत् प्रतिभा से काफी प्रभावित था। उसने जिनवल्लभ के उपदेश से धर्मकार्य में लाखों रुपये व्यय किये। प्रसिद्ध नरेश महाराज सिद्धराज जयसिंह भी जिनवल्लभ के प्रति अनुरागी था। आभुदुर्ग के राजा आनड़देव और कंकरावता के राव भीमसिंह पड़िहार ने इनके उपदेशों से प्रभावित होकर ही जैनधर्म में दीक्षा ली।

जिनवल्लभसूरि ने जो गोत्र स्थापित किये, उनमें कतिपय इस प्रकार हैं—धाड़ीवाहा, कोठारी, टाँटिया, लालाणी, बाँठिया, ब्रह्मेचा, मल्लावत, हरखावत, साहजी, भणसाली, खरभणसाली, चंडालिया, कच्छवा, रायभूरा, पुगलिया, संघवी, नवलखा, पल्लीवाल, फसला, निनवाणा, कांकरिया आदि।

इनमें डीडा नामक खीची राजपूत धाड़ मारने का धन्धा करता था, किन्तु गुरुदेव के उपदेश से उसने धाड़ मारना बन्द कर दिया। 'धाड़ीवाहा' गोत्र का सम्बन्ध इसी से है। राजा लालसिंह से लालाणी, बंठदेव से बाँठिया, ब्रह्मदेव से ब्रह्मेचा, मल्ल से मल्लावत, हरखचंद से हरखावत आदि गोत्र प्रकट हुए। राजा आनड़देव ने भाण्डशाला में सम्यक्त्व ग्रहण किया था, अतः उनका गोत्र भणसाली स्थापित हुआ। राव भीमसिंह पड़िहार ने जिनवल्लभसूरि द्वारा अभिमन्त्रित कंकड़ शत्रुपक्ष पर फेंके, जिससे शत्रुओं के शस्त्र कुंठित हो गये। कंकड़ द्वारा विजय प्राप्त हो जाने के कारण राव के वंशज कांकरिया कहलाये।

शिष्य-संतति :—जिनवल्लभसूरि के कितने शिष्य थे इसकी निश्चित संख्या प्राप्त नहीं है। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार तो दो-तीन

शिष्य थे। वि० सं० ११४० में जिनवल्लभ जब चित्रकूट पहुँचे थे उस समय या तो इनके दो शिष्य थे या उनके साथ में केवल दो शिष्य थे। सुमति गणि ने "आत्म तृतीय" के रूप में इसका संकेत दिया है कि वे तीन थे अर्थात् दो शिष्य और वे स्वयं।

उन दो शिष्यों में एक जिनशेखर थे और दूसरे शिष्य सम्भवतः गणि रामदेव थे। गणि रामदेव जिनवल्लभ के ही शिष्य थे, ऐसा उल्लेख स्वयं रामदेव ने "षडशीति टिप्पणक" में "तस्सिस्स-लवेणं" के रूप में किया है।

साहित्य-सेवा :—जिनवल्लभ का साहित्य-सर्जन विपुल है। यद्यपि प्राच्य विद्वानों के अनुसार उन्होंने शताधिक रचनाएँ लिखी।[1] किन्तु वर्तमान में उनकी अधोलिखित कृतियाँ उपलब्ध होती हैं—

(क) प्राकृतभाषा में निबद्ध कृतियाँ :

१. सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार सार्द्धशतक प्रकरण, कर्म-सिद्धान्त, पद्य संख्या १५२

२. आगमिकवस्तुविचार सार षडशीतिप्रकरण, कर्मसिद्धान्त, पद्य संख्या ८६

३. पिण्डविशुद्धि प्रकरण, आचार-सिद्धान्त, पद्य संख्या १०३

४. सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव, कर्म सिद्धान्त, पद्य संख्या ८

५. श्रावकव्रत कुलक, आचार-पक्ष, पद्य संख्या २८

६. पौषधविधि प्रकरण, विधि, गद्य

---

१ परमद्यापिभगवतामवदातचरितनिधीनां श्रीमरुकोट्टसप्तवर्षप्रमितकृतनिवास-परिशीलितसमस्तागमानां समग्रगच्छा हतसूक्ष्मार्थ सिद्धान्तविचारसार-षडशीति-सार्द्धशतकाख्य-कर्मग्रन्थ-पिण्डविशुद्धि-पौषधविधि-प्रतिक्रमण-सामाचारी-संघपट्टक-धर्मशिक्षा-द्वादशकुलक-रूपप्रकरण - प्रश्नोत्तरशतक-श्रृङ्गारशतक - नानाप्रकारविचित्रचित्रकाव्यशतसंख्यस्तुतिस्तोत्रादिरूप-कीर्तिपताका सकलंमहीमण्डलं मण्डयन्ती विद्वज्जनमनांसि प्रमोदयति।

—सुमति गणि, गणधरसार्द्धशतक वृत्ति

७. प्रतिक्रमण-समाचारी, विधि, पद्य संख्या ४०
८. द्वादशकुलक, उपदेश प्रधान रचना, पद्य संख्या २३३
९. स्वप्नसप्तिका, स्वप्नशास्त्र, पद्य संख्या ७१
१०. आदिनाथ चरित्र, चरित्र प्रधान रचना, पद्य संख्या २५
११. शान्तिनाथ चरित्र, चरित्र प्रधान रचना, पद्य संख्या ३३
१२. नेमिनाथ चरित्र, चरित्र प्रधान रचना, पद्य संख्या १५
१३. पार्श्वनाथ चरित्र, चरित्र प्रधान रचना, पद्य संख्या १५
१४. महावीर चरित्र, चरित्र प्रधान रचना, पद्य संख्या ४४
१५. वीर चरित्र (जय भवभव), चरित्र प्रधान रचना, पद्य संख्या १५
१६. चतुर्विंशति जिन स्तोत्राणि (भीमभव), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या १४५
१७. चतुर्विंशति जिन स्तुति (मरुदेवी नाभितणयं), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या ९६
१८. पंचकल्याणक स्तव (सम्मं नभिउण), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या २६
१९. सर्वजिन पंचकल्याणक स्तव (पणय सुर), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या ८
२०. लघुअजितशान्तिस्तव, स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या १७
२१. स्तम्भन पार्श्वजिन स्तोत्र, स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या ११
२२. क्षुद्रोपद्रवहर पार्श्वजिन स्तोत्र (नमिए सुरासुर), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या २२
२३. महावीर विज्ञप्तिका (सुरनरवर), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या १२
२४. महाभक्तिगर्भा सर्वविज्ञप्तिका (लोयालोय), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या ३६
२५. नन्दीश्वर चैत्य स्तव (वंडिय नंडिय), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या २५

(ख) संस्कृत भाषा में निबद्ध कृतियाँ :

१. धर्म शिक्षाप्रकरण, उपदेशपरक रचना, पद्य संख्या ४०

२. अष्टसप्तति अपर नाम चित्रकूटीय-वीर-चैत्य-प्रशस्ति, प्रशस्तिकाव्य, पद्य संख्या ७८

३. प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत, काव्य, पद्य संख्या १६१

४. शृङ्गारशतक, काव्य, पद्य संख्या १२१

५. पंचकल्याणकस्तोत्र (प्रीतद्वात्रिंश), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या १३

६. कल्याणक-स्तव (पुरन्दर पुर), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या ८

७, सर्वजिन स्तोत्र (प्रीति प्रसन्न), स्तोत्रपरक रचना, पद्य संख्या २३

८. पार्श्वजिन स्तोत्र (नमस्यद्गीर्वाण), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या ३३

९. पार्श्व स्तोत्र (पायात्यपार्श्व), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या ९

१०. पार्श्वजिन स्तोत्र (देवाधीश), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या १०

११. पार्श्वजिन स्तोत्र (समुद्यन्तो), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या २४

१२. पार्श्वजिन स्तोत्र (विनयविनमद्), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या १७

१३. पार्श्वजिन चित्रकाव्यात्मक (शक्तिशूलेषु), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या १०

१४. पार्श्वजिन चक्राष्टक (चक्रे यस्य नतिः), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या ८

१५. सरस्वतीस्तोत्र (सरभसलसद्), स्तुतिपरक रचना, पद्य-संख्या २५

(ग) समसंस्कृत-प्राकृत भाषा में निबद्ध रचना :

१. भावारिवारण स्तोत्र, स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या ३०

(घ) अपभ्रंशभाषा में निबद्ध रचना :

१. प्रथम जिन स्तव (सयल युवणिक्क), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या ३३

२. नवकार-स्तव(किं किं कप्पतरू), स्तुतिपरक रचना, पद्य संख्या १३

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त दो अन्य कृतियों के नाम मात्र प्राप्त हुए हैं, जिनका उल्लेख चर्चरी टीका में हुआ है।

१. आगमोद्धार और २. प्रचुरप्रशस्ति

जिनवल्लभसूरि द्वारा लिखित साहित्य में प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतम् और श्रृङ्गार-शतक ये दोनों कृतियाँ साहित्यिक तत्वों की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं और पहला तथा प्रसिद्धि की दृष्टि से सार्द्धशतक, षडशीति एवं पिण्डविशुद्धि है। इनके साहित्य पर अनेक विद्वानों ने व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं। महोपाध्याय विनयसागर का अभिमत है कि जिनवल्लभसूरि की मृत्यु के लगभग तीन वर्ष उपरान्त से लेकर शताब्दियों पर्यन्त तक इनके ग्रन्थों पर जितनी टीकायें लिखी गयीं उतनी सम्भवतः किसी भी जैनाचार्य की कृतियों पर नहीं।[1]

जिनवल्लभ-साहित्य पर आचार्य धनेश्वरसूरि, हरिभद्रसूरि, यशोदेव-सूरि, मलयगिरि जैसे मूर्धन्य विद्वानों ने भी टीका अर्थात् व्याख्या ग्रन्थ लिखे। जिनवल्लभ साहित्य पर व्याख्यायित ग्रन्थ निम्नानुसार हैं—

१. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार (साध शतक) भाष्य, अज्ञात
२. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार टिप्पण, टिप्पणकार रामदेवगणि
३. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार चूर्णि, चूर्णिकार मुनिचन्द्रसूरि
४. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार वृत्ति, वृत्तिकार धनेश्वराचार्य
५. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार वृत्ति, वृत्तिकार महेश्वराचार्य
६. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार वृत्ति, वृत्तिकार हरिभद्रसूरि
७. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार वृत्ति, वृत्तिकार चक्रेश्वराचार्य
८. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार प्राकृतवृत्ति, वृत्तिकार अज्ञात
९. सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार टिप्पणक, टिप्पणकार अज्ञात
१०. आगमिकवस्तुविचार सार (षडशीति) भाष्य, भाष्यकार अज्ञात

[1] वल्लभ-भारती, पृष्ठ १३७

११. आगमिकवस्तुविचारसार भाष्य, भाष्यकार अज्ञात
१२. आगमिकवस्तुविचार सार टिप्पण, टिप्पणकार रामदेवगणि
१३. आगमिकवस्तुविचार सार वृत्ति, वृत्तिकार हरिभद्रसूरि
१४. आगमिकवस्तुविचार सार वृत्ति, वृत्तिकार मलयगिरि
१५. आगमिकवस्तुविचार सार वृत्ति, वृत्तिकार यशोभद्रसूरी
१६. आगमिकवस्तुविचार सार विवरण, विवरणकार मेरुवाचक
१७. आगमिकवस्तुविचार सार टीका, टीकाकार अज्ञात
१८. आगमिकवस्तुविचार सार अवचूरि, अवचूरिकार अज्ञात
१९. आगमिकवस्तुविचार सार अवचूरि, अवचूरिकार अज्ञात
२०. आगमिकवस्तुविचार सार उद्धार, उद्धारकार अज्ञात
२१. पिण्डविशुद्धिवृत्ति, वृत्तिकार श्री चन्द्रसूरि
२२. पिण्डविशुद्धि लघुवृत्ति, लघुवृत्तिकार यशोदेवसूरि
२३. पिण्डविशुद्धि दीपिका, दीपिकाकार उदयसिंहसूरि
२४. पिण्डविशुद्धि टीका, टीकाकार अजितदेवसूरि
२५. पिण्डविशुद्धि दीपिका, दीपिकाकार अज्ञात
२६. पिण्डविशुद्धि अवचूरि, अवचूरिकार अज्ञात
२७. पिण्डविशुद्धि अवचूरि, अवचूरिकार अज्ञात
२८. पिंडविशुद्धि पंजिका, पंजिकाकार अज्ञात
२९. पिंडविशुद्धि अवचूरि, अवचूरिकार श्रीचन्द्र
३०. पिंडविशुद्धि टीका, टीकाकार अज्ञात
३१. पिंडविशुद्धि टीका, टीकाकार कनककुशल
३२. पिंडविशुद्धि बालावबोध, बालावबोधकार संवेगदेवगणि
३३. पौषधविधिप्रकरण वृत्ति, वृत्तिकार यु० जिनचन्द्रसूरि
३४. प्रतिक्रमणसमाचारी स्तवक, स्तवककार विमलकीर्ति
३५. द्वादशकुलकटीका, कर्त्ता उपाध्याय जिनपाल
३६. धर्मशिक्षाप्रकरण टीका, कर्त्ता उपाध्याय जिनपाल
३७. संघपट्टकबृहद्वृत्ति, कर्त्ता आचार्य जिनपतिसूरि

३८. संघपट्टकलघुवृत्ति, कर्त्ता उपाध्याय हर्षराज
३९. संघपट्टकवृत्ति, कर्त्ता लक्ष्मीसेन
४०. संघपट्टक अवचूरि, कर्त्ता आचार्य विवेकरत्नसूरि
४१. संघपट्टक अवचूरि, कर्त्ता उपाध्याय साधुकीर्ति
४२. संघपट्टक पंजिका, कर्त्ता देवराज
४३. स्वप्न-सप्तति, टीका, कर्त्ता सर्वदेवसूरि
४४. संघपट्टक-बालावबोध, कर्त्ता उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ
४५. प्रश्नोत्तरैक षष्टिशतकाव्यपट्टीका, कर्त्ता उपाध्याय पुण्यसागर
४६. प्रश्नोत्तरैक षष्टि शतकाव्यं अवचूरि, कर्त्ता आचार्य सोमचन्द्र सूरि के शिष्य, नाम अज्ञात।
४७. प्रश्नोत्तरैक षष्टिशतकाव्यमवचूरि, कर्त्ता मुक्तिचन्द्र गणि
४८. प्रश्नोत्तरैक षष्टिशतकाव्यमवचूरि, कर्त्ता कणि कमलमन्दिर
४९. प्रश्नोत्तरैक षष्टिशतकाव्यमवचूरि, कर्त्ता अज्ञात
५०. प्रश्नोत्तरैक षष्टिशत काव्य टीका, कर्त्ता अज्ञात
५१. चरित्र-पंचकटीका, कर्त्ता उपाध्याय साधुसोम
५२. चरित्र पंचकावचूरि, कर्त्ता उपाध्याय कनकसोम
५३. चरित्र पंचकबालावबोध, कर्त्ता कमलकीर्ति
५४. महावीर चरित्र टीका, कर्त्ता उपाध्याय समयसुन्दर
५५. महावीर चरित्रावचूरि, कर्त्ता गणि कनककलश
५६. महावीर चरित्रबालावबोध, कर्त्ता विमलरत्न
५७. महावीर चरित्रबालावबोध, कर्त्ता उपाध्याय समयसुन्दर
५८. महावीर चरित्रस्तवक, कर्त्ता गणिसुमति
५९. लघु अजितशान्तिस्तव टीका, कर्त्ता उपाध्याय धर्मतिलक
६०. लघु अजितशान्तिस्तव टीका, कर्त्ता उपाध्याय समयसुन्दर
६१. लघु अजितशान्तिस्तव टीका, कर्त्ता उपाध्याय गुणविनय
६२. लघु अजितशान्तिस्तव बालावबोध, कर्त्ता उपाध्याय साधुकीर्ति
६३. लघु अजितशान्तिस्तवबालावबोध, कर्त्ता उपाध्याय कमलकीर्ति

६४. लघु अजितशान्तिस्तवबालावबोध, कर्त्ता उपाध्याय देवचन्द्र
६५. नन्दीश्वर स्तोत्रटीका, कर्त्ता उपाध्याय साधुसोम
६६. भावारिवारणस्तोत्रटीका, कर्त्ता उपाध्याय जयसागर
६७. भावारिवारणस्तोत्रटीका, कर्त्ता उपाध्याय मेरुसुन्दर
६८. भावारिवारणस्तोत्र, कर्त्ता उपाध्याय क्षेमसुन्दर
६९. भावारिवारणस्तोत्र टीका, कर्त्ता चरित्रवर्धन
७०. भावारिवारणस्तोत्र टीका, कर्त्ता मतिसागर
७१. भावारिवारणस्तोत्रावचूरि, कर्त्ता अज्ञात
७२. भावारिवारणस्तोत्र बालावबोध, कर्त्ता उपाध्याय मेरुसुन्दर
७३. भावारिवारण पादपूर्तिस्तोत्र, कर्त्ता गणि पद्मराज

समय-संकेत :—आचार्य जिनवल्लभसूरि का समय विक्रम की बारहवीं शदी है। इनका जन्म-समय विक्रम की बारहवीं शदी का पूर्वार्द्ध है। वि० सं० ११६७ में इनका देहावसान हुआ।

विद्वत्रत्न आचार्य हरिसिंहसूरि :

जीवन-वृत्त :—हरिसिंहसूरि एक उद्भट विद्वान आचार्य थे। इन्होंने आचार्य जिनदत्तसूरि को शास्त्रीय विद्याध्ययन करवाया था। इनके गुरु उपाध्याय धर्मदेव थे। इनके एक भाई ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी, जो गणि सर्वदेव के नाम से उल्लिखित है। पट्टावलियों के अनुसार इन्होंने मृत्यु के बाद स्वर्गारोहण किया और जिनदत्तसूरि को देवस्वरूप में दर्शन भी दिया था। पश्चात्वर्ती विद्वानों ने उक्त तथ्यों के व्यतिरिक्त अन्य उल्लेख नहीं किये हैं।

समय-संकेत :—ये बारहवीं शदी में हुए थे।

प्रबुद्धचेता गणि रामदेव :

जीवन-वृत्त :—रामदेव के सम्बन्ध में गणधर सार्द्धशतक बृहद् वृत्ति में सुमति गणि ने लिखा है कि "स हि भगवान् जिनवल्लभसूरि

यस्य शिरसि स्वहस्तपद्मं ददाति स जडोऽपि रामदेवगणिरिव वन-कयलावर्तीर्णं भारती कोऽत्यन्तदुर्बोध-सूक्ष्मार्थ सारप्रकरण वृत्ति विरचयति।"

इससे यह सिद्ध होता कि गणि रामदेव आचार्य जिनवल्लभसूरि के एक विद्वान शिष्य थे। रामदेव के साहित्य का अवलोकन करने से विदित होता है कि इन्होंने प्राकृत भाषा एवं सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया था। कर्म-सिद्धान्त का इन्हें विशेष ज्ञान था। इनके जन्म दीक्षा काल आदि का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। ये बारहवीं शदी में हुए। महोपाध्याय विनयसागर के उल्लेखानुसार इनकी दीक्षा ११३०-६७ के मध्य हुई होगी।[१]

साहित्य :—रामदेव के निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं—(१) सत्तरीटिप्पन (२) सार्द्धशतक टिप्पन (३) षडशीतिटिप्पन। उक्त तीनों ग्रन्थों का रचना-काल एवं रचना-स्थल अज्ञात है।

समय-संकेत :—ये बारहवीं शदी में हुए थे।

जिनशासन-सेवी पद्मानन्द :

पद्मानन्द धर्मनिष्ठ, दानवीर एवं कवि थे। जिनमन्दिरों के निर्माण में इन्होंने अपना तन, मन, धन समर्पित कर दिया। संस्कृत का इन्हें अच्छा ज्ञान था।[१] ये एक विद्वान श्रावक थे।

जीवन-वृत्त :—इनके सम्बन्ध में मात्र इतना ही ज्ञात हो पाया है कि इनके पिता का नाम धनदेव था जो नागौर के निवासी थे। पिता और पुत्र दोनों ही आचार्य जिनवल्लभसूरि के परम भक्त थे एवं खरतरगच्छ-परम्परा से सम्बद्ध थे।

'वैराग्यशतक' के अनुसार पद्मानन्द ने आचार्य जिनवल्लभसूरि

---

[१] वल्लभ भारती, पृष्ठ १४३

का उपदेश सुनकर नागपुर (नागोर) में भगवान् नेमिनाथ का भव्य मन्दिर बनवाया था।[1]

साहित्य :—पद्मानन्द ने 'वैराग्यशतक' नामक काव्य भी लिखा था जिसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द में १०३ पद्य हैं। इसमें वैराग्य-मूलक बातें बताई गई हैं और सच्चे योगी तथा कामुक लोगों का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। इसकी चौथी आवृत्ति 'काव्यमाला' गुच्छक ७ में प्रकाशित हुई है।

समय-संकेत :—पद्मानन्द का काल विक्रम की बारहवीं शदी है।

सम्मान्य आचार्य अशोकचन्द्रसूरि :

अशोकचन्द्रसूरि एक प्रभावशाली आचार्य थे। तत्कालीन अन्य आचार्य इन्हें विशेष आदर देते थे और गच्छ में होनेवाले विशिष्ट कार्यों को इन्हीं के कर-कमलों से करवाते थे।

जीवन-वृत्त :—अशोकचन्द्रसूरि के सम्बन्ध में अन्य जानकारी मात्र इतनी ही उपलब्ध हो सकी है कि इनके गुरु का नाम गणिसहदेव था और प्रगुरु का नाम आचार्य जिनेश्वरसूरि था। आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने इन्हें विशेष विद्याध्ययन करवाया था। प्रसन्नचन्द्र, हरिसिंह और देवभद्र जैसे महामुनियों को अशोकचन्द्रसूरि ने ही आचार्य-पदारूढ़ किया था। मुनि सोमचन्द्र (आचार्य जिनदत्तसूरि) आदि की बृहद्-दीक्षा भी इन्होंने ही करवाई थी। इनके शिष्यों में एक शिष्य का नाम उदयचन्द्र था, जिसने वि० सं० ११५४ में ओघनिर्युक्ति की रचना की थी।

साहित्य :—अशोकचन्द्रसूरि द्वारा लिखित साहित्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। जबकि इन्होंने साहित्य-सर्जन निश्चित किया था।

---

१ वैराग्य शतक (१०२)

क्योंकि इनके द्वारा लिखित उत्तराध्ययन सूत्रवृत्ति की सूचना प्रत्येक-बुद्ध चरित्र में प्राप्त होती है—

यच्छिष्याः षडुत्तराध्ययनसद्व्याख्यामशोकेन्दुरा।

× × ×

स्वपूर्वज श्रीमदशोकचन्द्र श्री नेमिचन्द्रादिम सूत्रधार।
दृष्टवोत्तराध्याय विवृत्तिसूत्रानुसार तच्चावंति संघट्टयः।[1]

समय-संकेत :—प्राप्त प्रमाणों के आधार पर अशोकचन्द्रसूरि का जीवन-काल विक्रमसंवत् ११०० से ११७५ तक का होना चाहिए।

जगत्पूज्य आचार्य जिनदत्तसूरि

जिनदत्तसूरि का युग खरतरगच्छ के लिए स्वर्ण-युग सिद्ध हुआ था। खरतरगच्छ संघ की इन्होंने सर्वाधिक संवृद्धि की। प्रतिभा, प्रसिद्धि एवं कर्तृत्व की दृष्टि से जिनदत्तसूरि को न केवल खरतरगच्छ अपितु जैन परम्परा का अद्वितीय आचार्य कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। उसी युग में हेमचन्द्राचार्य, वादिदेवसूरि, मलयगिरि, कवि-चक्रवर्ती श्रीपाल जैसे महाप्रतिभावान् व्यक्ति हुए, किन्तु जिनदत्तसूरि को जितनी जनप्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उतनी सम्भवतः अन्य किसी को प्राप्त नहीं हो पायी थी। जैनसंघ के पुनर्वर्धन एवं पुनरोद्धार हेतु जिनदत्तसूरि का श्रम अनुपमेय रहा।

जैन समाज में दादा गुरुदेव के नाम से विश्रुत युगप्रधान आचार्य जिनदत्तसूरि ने जैनधर्म के व्यापक विस्तार की दृष्टि से बहुत बड़ा कार्य किया। लाखों अजैनों को जैनधर्म में प्रवृत्त किया। क्षत्रिय जाति का जैनधर्म के साथ प्रारम्भ से ही बड़ा निकटतापूर्ण सम्बन्ध रहा, किन्तु आगे चलकर परिस्थितिवश वैसा नहीं रह सका। शताब्दियों बाद आचार्य जिनदत्तसूरि ने अपने त्याग-तपोमय आदर्शों और

---

[1] प्रत्येकबुद्धचरित्र, प्रशस्ति, पृ० ३०

उपदेशों से लाखों क्षत्रियों को प्रभावित किया। उन्होंने जैनधर्म स्वीकार किया। ओसवाल जाति जो आज लाखों की संख्या में है, उसी क्षत्रिय-परम्परा की आनुवंशिकता लिये हुए है।

आचार्य जिनदत्तसूरि ऐसे राष्ट्रसन्त हुए, जिन्होंने आम जनता के दुःख-दर्दों को गहराई से समझा और उसे दूर करने के लिए भरसक कोशिश की। जनता ने आचार्य की आत्मा में स्वयं की आत्मा का दर्शन किया और उन्हें 'जन-उद्धारक' एवं 'जन-मसीहा' के रूप में स्वीकार किया। जिनदत्तसूरि ने मानवता को जो सम्मान दिया, उसे सच्चाई की राह से जोड़ने का जो प्रयास किया, क्या विश्व का इतिहास उसे भुला पाएगा? हजारों-लाखों लोग उस आचार्य की पगडण्डी पर चले और उन्होंने जैनत्व के मानवीय धर्म को बड़े गर्व के साथ अपनाया। न केवल उन्होंने अपनाया, वरन् उनकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी भी इस धर्म की अनुयायी बनी रही है। आज भी ऐसे लाखों जैन हैं, जिन्हें जैनत्व आचार्य जिनदत्तसूरि के कारण ही पैतृक-सम्पत्ति के रूप में मिला हुआ है। जैनत्व के विस्तार के लिए आचार्य जिनदत्तसूरि युग-युग तक धर्मसंघ के आदर्श रहेंगे।

साध्वी संघमित्रा के शब्दों में जिनदत्तसूरि की नई सूझबूझ ने धर्म विस्तार के लिए नये आयाम खोले। सत्य के प्रतिपादन में उनकी नीति विशुद्ध थी। उनके शासनकाल में जैनीकरणका महत्त्व-पूर्ण कार्य हुआ। जैन संख्या का विस्तार उनके जीवन की अभूतपूर्व देन है। संख्या वृद्धि सुविहित विधि-मार्ग की नींव को मजबूत करने में परम सहायक सिद्ध हुई। आचार्य जिनदत्तसूरि की इस प्रवृति का अनुकरण समस्त जैन समाज कर पाता, तो जैनों की संख्या सम्भवतः कई करोड़ तक पहुँच जाती।[1]

अपभ्रंशभाषा और प्राचीन हिन्दी के विकास में एवं उनको जीव-

---

[1] जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ ६२०

न्तता प्रदान करने में भी जिनदत्त का स्थान महत्वपूर्ण है। उनके अद्भुत कार्य और उनका साहित्यिक जीवन न केवल समकालीन बल्कि परवर्ती विद्वत्वर्ग तथा समाज द्वारा स्थान-स्थान पर निरन्तर प्रशंसनीय रहा है। अनेक लेखकों कवियों ने उन पर वहुत-सी स्वतन्त्र रचनाएँ रची हैं। जनसाधारण ने उनके उपकारों से उपकृत एवं श्रद्धाभिभूत होकर भारत के अनेक अंचलों में स्तूप, प्रतिमा एवं चरण-चिह्न निर्मित-प्रतिष्ठापित किये, जो कि दादावाड़ी के नाम से जनविश्रुत हैं। उनकी वर्तमान दादाबाड़ियों की सूची अखिल भारतीय खरतरगच्छ महासंघ, दिल्ली ने प्रकाशित की है।

सम्प्रति जिनदत्तसूरि के महनीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर अनेक कार्य हुए हैं, जिनमें अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा द्वारा लिखित युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि नामक शोधमूलक ग्रन्थ और मुनि कान्तिसागर द्वारा उसी ग्रन्थ की प्रस्तावना विशेष उल्लेखनीय है। आप पर किये गये अन्य रचना कार्यों में धनपतिसिंह भणसाली कृत, श्री-जिनदत्तसूरि जीवनचरित्र, शेरसिंह गौड़वंशी कृत श्री जिनदत्तसूरि चरित्र, शासनप्रभावक श्री जिनदत्तसूरिजी नो जीवनचरित्र और आचार्य जिनहरिसागरसूरि कृत जिनदत्तसूरि पूजा विशेष उल्लेखनीय हैं। उपाध्याय लब्धिमुनि ने सं० २००५ में जिनदत्तसूरिचरित्र नामक ४६८ श्लोक का ललितकाव्य रचा है। श्रमण भारती प्रकाशन आगरा आदि पत्र-संस्थाओं ने आप पर विशेषांक भी प्रकाशित किये हैं। आपके नाम पर अनेक संघों, संस्थाओं का निर्माण भी हुआ, जिनमें जिनदत्तसूरि पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, जिनदत्तसूरि सेवा संघ, कलकत्ता एवं जिनदत्तसूरिमण्डल, मद्रास का नाम उल्लेखनीय है। जिनदत्त-सूरि का जीवन-वृत्त गुर्वावलियों-पट्टावलियों में सविस्तार वर्णित है जिनमें प्रामाणिकता की दृष्टि से गणधरसार्द्धशतकवृहद्वृत्ति आधारभूत हैं।

जीवन-वृत्त :—युगप्रधानाचार्य गुर्वावली[1] के अनुसार जिनदत्त का जन्म गुजरात प्रान्तान्तर्गत धवलका (धोलका) ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम वाछिग था, जो हुम्बड़ज्ञातीय श्रेष्ठि थे और माता का नाम बाहड़देवी था। इनका जन्म-समय विक्रम सं० ११३२ है, किन्तु यह तथ्य अनवगत है कि उस वर्ष की किस तिथि को उनका जन्म हुआ था और उनका जन्म नाम क्या था।

उपाध्याय धर्मदेव की आज्ञानुवर्तिनी विदुषी साध्वियों के सत्सम्पर्क से उदीयमान वाछिगपुत्र के अन्तस में श्रमण-धर्म के प्रति आकर्षण पैदा हुआ था। साध्वियों का धवलका में चातुर्मास था और वाछिग तथा बाहड़देवी अपने पुत्र को लेकर उनके पास वन्दन-प्रवचन-श्रवणार्थ आया करते थे। एक दिन साध्वियों ने उस दम्पत्ति को समझाया कि यह बालक भविष्य में बहुमुखी प्रतिभा का धनी होगा और इसके द्वारा जिनशासन की विशिष्ट प्रभावना होने की संभावना है। अतः इसे हमारे गुरु-महाराज को सौंप दो। दम्पत्ति ने प्रधान साध्वी के वचनों को स्वीकार कर लिया। अन्त में विक्रम संवत् ११४१ में नौ वर्ष की अल्पायु में उपाध्याय धर्मदेव जो गणधरसार्द्ध शतक वृहद् वृत्ति के अनुसार जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे, ने इस बालक को दीक्षित किया और उसका प्राथमिक अध्ययन का कार्यभार गणि सर्वदेव को दिया। दीक्षा के समय वे सोमचन्द्र नाम से अभिहित हुए। यद्यपि धनपतसिंह भणसाली लिखित जिनदत्तसूरि चरित्र में इनका दीक्षा-नाम प्रबोधचन्द्र उल्लिखित है, किन्तु प्रबोधचन्द्र नाम को सिद्ध करनेवाले अन्य साक्ष्य अनुपलब्ध हैं। विविध पट्टा-वलियों में सोमचन्द्र नाम ही निर्दिष्ट है।

मुनि सोमचन्द्र की वृहद्दीक्षा आचार्य अशोकचन्द्रसूरि के कर-कमलों से हुई।

---

[1] युगप्रधानाचार्यगुर्वावली, खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ १६ से २०

एक दिन गणि सर्वदेव और मुनि सोमचन्द्र दोनों शौच-क्रिया के लिए बहिर्भूमि गये। सोमचन्द्र ने बालस्वभावानुसार एक पौधे को उखाड़ दिया। वस्तुतः सोमचन्द्र को यह जानकारी नहीं थी कि मुनि-जीवन में सचित पदार्थ को तोड़ना-मरोड़ना यथार्थतः मुनित्व की विराधना है। सोमचन्द्र ने हिंसा की भावना से पौधे को न उखाड़कर बालस्वभावानुसार उखाड़ा था, अतः वे हिंसा आस्रव से आबद्ध नहीं कहे जाएँगे। किन्तु सर्वदेव ने सोमचन्द्र को डांटा और इस भूल की पुनरावृत्ति न हो इस उद्देश्य से कहा कि साधु होकर पौधा तोड़ते हो? ये रजोहरण और मुखवस्त्रिका मुझे दो और चले जाओ अपने घर।[1]

सोमचन्द्र की प्रतिभा अप्रतिम थी। उन्होंने उसी बाल्य-लहजे में कहा कि मैं घर तो चला जाऊँगा, किन्तु आप मेरे गुरुदेव से मुझे वह चोटी वापस दिला दीजिये, जो उन्होंने दीक्षाविधि में मेरे मस्तक से ग्रहण की थी। सर्वदेव निरुत्तर और लज्जित हो गये। भला, टूटी चोटी पुनः दी अथवा सांधी जा सकती है?

गणि सर्वदेव के पास सामान्य अध्ययन पूर्ण होने के बाद सोमचन्द्र ने सात वर्ष पर्यन्त पाटण में रहकर न्याय-दर्शन आदि का उच्च स्तरीय विद्याध्ययन किया एवं अल्पवय में भी वादियों को परास्त कर कीर्तिश्री प्राप्त की।

सोमचन्द्र का आगमिक एवं सैद्धान्तिक अध्ययन हरिसिंहाचार्य ने करवाया। सोमचन्द्र अर्थात् जिनदत्त ने स्वयं इन्हें अपना शिक्षा-गुरु धर्म-गुरु स्वीकार किया है। सोमचन्द्र ने विविध शिक्षकों और धर्मगुरुओं से विद्या की उस सीमा को पार कर दिया था, जिससे वे वैदुष्य प्रतिभा की दृष्टि से तत्कालीन मूर्धन्य विद्वानों में एक माने जाने लगे।

---

१ गणधरसार्धशतक, गाथा ७८

विक्रम संवत् ११६९, वैशाख शुक्लपक्ष १, शनिवार के दिन आचार्यप्रवर देवभद्रसूरि ने सोमचन्द्र को समस्त खरतरगच्छीय श्रमण-संघ में परम योग्य जानकर श्रेष्ठि साधारण द्वारा निर्मापित भगवान् महावीर के विधि-चैत्य में महोत्सवपूर्वक आचार्य-पदारूढ़ किया और उन्हें आचार्य जिनवल्लभसूरि के पट्टधर घोषित किए। इसी समय इनका सोमचन्द्र नाम परिवर्तित कर जिनदत्तसूरि नामकरण हुआ।

आचार्य-पदालंकृत होने के पश्चात् जिनदत्त ने स्वर्गस्थ आचार्य हरिसिंहसूरि की आराधना की और उनसे प्राप्त संकेतानुसार उन्होंने मुनिमण्डल के साथ मरुधर देश की ओर मंगल विहार किया। क्रमशः विचरण करते हुए वे नागपुर (नागोर) पहुँचे, जहाँ विविध शासन-प्रभावक कार्य हुए। आचार्य के द्वारा आयतन-अनायतन विषयक विशुद्ध प्ररूपणा से श्रेष्ठि धनदेव आदि अनेक श्रावक प्रतिबुद्ध हुए।

परन्तु युगप्रधानाचार्य गुर्वावली ने तो यह लिखा है कि धनदेव ने आचार्य से निवेदन किया था कि यदि आयतन-अनायतन विषयक प्ररूपणा करनी छोड़ दे तो वह उन्हें दोनों पक्षीय लोगों द्वारा श्रद्धा केन्द्र बना देगा, किन्तु जिनदत्तसूरि ने उसके निवेदन को अस्वीकार कर दिया। धनदेव को छोड़कर अन्य सभी लोग जिनदत्त के समर्थक हुए।

नागपुर से प्रस्थान कर वे अजमेर गये। अजमेर के चौहान राजा अर्णोराज ने इनकी अगवानी की और इनके समागम का लाभ संप्राप्त किया। राजा ने जिनदत्तसूरि से प्रभावित होकर जैनसंघ को विधि चैत्य निर्माणार्थ विस्तृत भूमि भेंट की।

जिनदत्तसूरि ने राजा को धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया। उपाध्याय जिनपाल के अनुसार जिनदत्त ने निम्न श्लोक के द्वारा राजा को आशीर्वाद प्रदान किया था—

श्रिये वृत्त नतानन्दा विशेषवृषसंगताः ।
भवन्तु भवतां भूप ! ब्रह्मश्रीधर शंकराः ॥

अर्थात् हे राजन् भक्तों को आनन्द देनेवाले और क्रमशः गरुड़, शेषनाग और बृषभ पर सवारी करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और शंकर आप के लिए कल्याणकर हों।

एक जैनाचार्य द्वारा जैनेतर मान्य देवों का इस प्रकार उल्लेख करना यह कोई सामान्य बात नहीं हैं। यह वस्तुतः उनकी सर्वधर्म समभाव है।

अजमेर में जिनदत्तसूरि के ठाकुर आशधर, रासल, साधारण इत्यादि श्रावक विशेष भक्तों में से थे। अजमेर में निर्माणाधीन जिन मन्दिर में आचार्य के आदेश से ठाकुर आशधर ने विशेष वित्त प्रदान किया था। जिनदत्तसूरि ने अजमेर से बागड़देश की ओर पाद-विहार किया। बागड़देश में उन्होंने अनेक धर्मोद्योतकर कार्य किये। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने सम्यक्त्वव्रत, देशविरति-व्रत, सर्वविरति-व्रत, दीक्षा-व्रत, उपसम्पदाएँ आदि स्वीकार किये। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार उस देश में जिनदत्तसूरि के सान्निध्यमें साध्वी-दीक्षा हुई और मुनि जिनशेखर को उपाध्याय-पद से विभूषित कर उन्हें रुद्रपल्लीय क्षेत्रों में धर्मप्रचार के लिए भेज दिया गया।

मरुदेश से विहार करके जिनदत्तसूरि त्रिभुवनगिरि (तहनगढ़) पधारे, जहाँ उन्होंने महाराजा कुमारपाल यादव को प्रतिबोध देकर जैन-मुनियों के सम्बन्ध में लगाये प्रतिबन्धों को हटाया। ऐसा संकेत हमें 'गुरु गुणषट्पद' में प्राप्त होता है।[१]

अनुक्रमशः रूद्रपल्ली, विक्रमपुर, उच्चनगर, नवहर, उज्जयनी, चित्रकूट (चित्तौड़) प्रभृति प्रमुख नगरों में शासन-प्रभावना करते हुए जिनदत्तसूरि ने खरतर विधिपक्ष का प्रबलवेग से प्रसार किया तथा बहुत-से विधिचैत्यों का परिनिर्माण कराया एवं प्राण-प्रतिष्ठा करवाई।

---

१ ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह, गुरु गुण षट्पद, पृ० २

आचार्य जिनदत्तसूरि की आगमनिष्ठ चारित्रशीलता से सर्वसाधारणजन तो प्रभावित हुआ ही, उनके विपक्षी चैत्यवासी आचार्य, यतिगण भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। आचार्य जयदेव, आचार्य जिनप्रभ, विमलचन्द्र, जयदत्तमन्त्रवादी, गणि गुणचन्द्र, गणिब्रह्मचन्द्र, गणि रामचन्द्र, जीवानन्द प्रभृति अनेक प्रमुख चैत्यवासियों ने तो उनकी उपसम्पदा-शिष्यता भी परिग्रहण की थी। भला, जिस गुरु के पास बड़े-बड़े आचार्य, यतिजन अनुदीक्षित हुए हों, उनके द्वारा लक्षाधिक व्यक्तियों का सुविहित पक्ष और जैनधर्म अंगीकार कराना जितना स्वाभाविक है, उतना ही गरिमापूर्ण भी है।

युगप्रधान-पद :—आचार्य जिनदत्तसूरि अपने समय के अप्रतिम प्रतिभाशाली राष्ट्र सन्त थे। जैनीकरण का जो कीर्तिमान जिनदत्त ने उपस्थित किया, वह उन्हें सदा अमर बनाये रखेगा।

आचार्य जिनदत्तसूरि के सम्बन्ध में एक तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो उनकी महनीयता पर सर्वोपरि प्रकाश डालता है और जिसका वर्णन समस्त विद्वानों ने एकस्वर से किया है वह तथ्य है युगप्रधान-पदारोहण का। यह एक अनोखी घटना है कि आचार्य जिनदत्तसूरि को युगप्रधान-पद की देन मात्र मानवीय ही नहीं, अपितु दैवीय भी थी। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार नागदेव नामक श्रावक के मन में यह जिज्ञासा हुई कि इस समय संसार में युगप्रधान आचार्य कौन है। उसने समाधान पाने के लिए देवी अम्बिका का तपोबल सहित ध्यानस्मरण किया। देवी ने उसके करतल में एक पद्य लिखा, और कहा कि जो व्यक्ति इसको प्रगट कर दे, वही युगप्रधान है। वह आलेखन नागदेव के लिए तो अपाठ्य था, अदृश्य था। नागदेव ने अनेक आचार्यों का अपना करतल निर्दर्शित किया, किन्तु अन्ततः मात्र एक ही आचार्य उस पर वासक्षेप कर प्रगट कर सके और वे थे आचार्य जिनदत्तसूरि। प्राप्त सन्दर्भों के अनुसार नागदेव के करतल में निम्नांकित श्लोक अंकित था—

दासानुदासा इव सर्वे देवा, यदीय पादाब्जतले लुठन्ति।
मरुस्थली कल्पतरुः सजीयात् युगप्रधानो जिनदत्तसूरिः ।।[1]

अलौकिक प्रसंग :—युगप्रधान जिनदत्तसूरि के यौगिक और चारित्रिक बल से निष्पन्न अनेक विलक्षण कार्य प्रसिद्ध हैं। उन कार्यों का विवरण यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।

आचार्य जिनदत्तसूरि एक महान् चमत्कारिक पुरुष माने गये हैं। उनके बारे में लिखा है—

अंबड़ सावय कर लिहिय, सोवन अखर अंब।
जुगपहाण जगि पयडियउए, सिरि सोहम पडिबिंब ॥
जिण चोसठि जोगिणी जितिय, खित्तवाल बावन्न।
डाइणि साइणि विभूसीय, पहुवइ नाम न अन्न ।।
सूरि मंत्र बलि कर सहिय, साहिय जिण धरणिंद।
सावय साविय लख इग, पडिबोहिय जण वृन्द ।।
अरि करि केसरी दुट्ठबल, चउविह देव निकाय।
आण न लोपि कोइ जगि, जसु पणमइ नरराय ।।[2]

युगप्रधान पद्प्राप्ति एवं ६४ योगिनियों को प्रतिबोध देने जैसे उल्लेख गणधरसार्द्धशतक वृत्ति में भी मिलते हैं, जो कि एक प्रमाणिक ग्रन्थ मान्य है। परवर्ती गुर्वावलियों में अन्य अनेक घटनाओं का समावेश हुआ है, जिन्हें चमत्कारिक तथा अलौकिक घटनाएँ कहा जा सकता है। यथा—प्रथमानुयोग ग्रन्थ प्राप्ति, सोमराज प्रभृति देवों द्वारा भक्ति करना, अजमेर में विद्युत्-स्थंभन, मुल्ला-पुत्र को जीवनदान

---

१ वृद्धाचार्य प्रबन्धावली (५)
२ श्री जिनदत्तसूरि स्तुति, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृष्ठ ४

मृतक गौ को जीवित करना, व्याख्यानश्रवणार्थ देवों का आगमन, डूबती नौका को तिराना, कम्बल पर बैठकर नदी पार करना आदि। गणि रामलाल रचित, "दादा गुरुदेव की पूजा" एवं "महाजन वंश-मुक्तावली" में तो ऐसी घटनाओं का भरपूर विवरण प्रदत्त है।

एक ही घटना का विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न ढंग से उल्लेख करना, एक ही घटना का एकाधिक आचार्यों के कर्तृत्व में वर्णन होना, स्वयं जिनदत्त के समकालीन साहित्य अथवा निकटवर्ती साहित्य में दो-चार को छोड़कर अन्य प्रसंगों का उल्लेख न रहना इत्यादि कारणों को देखते हुए उन सब प्रसंगों का समीक्षात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

उज्जयनी-प्रवास में जिनदत्तसूरि मायाबीज/ह्रींकार का जप कर रहे थे। एक दिन उनका ध्यान विचलित करने के लिए/उन्हें छलने के लिए ६४ योगिनियाँ प्रवचन-सभा में पहुँची। जिनदत्त के निर्देशानुसार श्रावकवर्ग ने उन्हें पट्टों पर बैठवाया। किन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि प्रवचन समाप्त हो जाने पर उन्होंने खड़े होने का प्रयास किया, किन्तु वे स्तम्भित हो गयीं, उठ नहीं पायी। अन्त में उन्होंने क्षमा प्रार्थना की कि हम छलने तो आई थीं आप श्री को, किन्तु छली गयी स्वयं। हम क्षम्य हैं। जिनदत्त ने उन्हें क्षमा कर दिया। गणधरसार्द्धशतकवृत्ति के आधार पर योगिनियों ने जिनदत्तसूरि को भविष्य में धर्मप्रचार में सहायता करने का वचन दे स्वस्थान लौट गई। किन्तु उपाध्याय क्षमा-कल्याण आदि विद्वानों ने अपनी पट्टावलियों में योगिनियों द्वारा ७ वरदान देने का उल्लेख किया है। साथ ही साथ योगिनियों ने एक बात और कही कि आपके शिष्य भरूअच्छ, दिल्ली, उज्जयनी और अजमेर में हमारे योगिनीपीठ होने के कारण वहाँ न जाएं और यदि जाएं तो रात्रि-विश्राम न करें।

सर्वप्रथम हम वरदानों की चर्चा करते हैं। सात वरदान निम्न हैं—

१. खरतरगच्छीय साधु मूर्ख नहीं होगा।

२. साध्वियों को स्त्रीधर्म नहीं होगा।

३. साधु-साध्वियों की सर्प से मृत्यु नहीं होगी।

४. खरतरों की वचन-सिद्धि होगी।

५. आपके नाम-ग्रहण से विद्युत्पात नहीं होगा।

६. शाकिनी नहीं छलेगी।

७. खरतर श्रावक धनवान होंगे।

उक्त वरदान केवल जिनदत्तसूरि के जीवनपर्यन्त ही क्रियान्वित होंगे, या बाद में भी, इसकी किसी ने सूचना नहीं दी है। हमारे विचारानुसार इन वरदानों का सम्बन्ध मात्र जिनदत्तसूरि से ही है, पश्चवर्ती परम्परा से नहीं है। क्योंकि वर्तमान काल में उक्त सात वरदानों का प्रभाव नहीं देखा जा रहा है। जबकि जिनदत्तसूरि के समय में इन वरों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इन सात वरों में से साध्वियों के स्त्रीधर्म होने के वर को छोड़कर अन्य सभी वरों के प्रभाव होने के प्रमाण मिलते हैं।

सम्भवतः यह भी हो सकता है कि सप्त वरदानों की क्रियमानता के लिए निम्नलिखित सप्त विधानों की क्रियान्विति आवश्यक हो। वे सप्त विधान निम्न हैं—

१. पट्टधर पंचनदी साधन करे।

२. आचार्य प्रतिदिन १००० सूरिमन्त्र का जाप करे।

३. खरतरश्रावक उभयकाल सप्तस्मरण का पाठ करे।

४. प्रत्येक गृह में २०० क्षिप्रचटी (उपसर्गहर स्तोत्र/नवकार मन्त्र) माला फेरी जाये।

५. एक माह में २ आचाम्लतप (आयम्बिल) प्रत्येक खरतरघर में किये जाये।

६. पदारूढ़ साधु एकाशन करे।

७. हर खरतर-साधु २०० बार नमस्कार-मन्त्र का स्मरण करे।[1]

योगिनियों द्वारा जो दिल्ली आदि नगरों में जिनदत्तसूरि के पट्टधरों के जाने का निषेध किया था, वह अगरचन्द नाहटा और भंवरलाल नाहटा को असंगतिपूर्ण लगता है। उन्होंने लिखा है कि जिनदत्तसूरि परम्परा के अनेक आचार्य समय-समय पर दिल्ली आदि यागिनीपीठों में गये थे। यदि सब पट्टधरों को वहां जाना निषिद्ध होता तो फिर उनका जाना संभव न था। नाहटा बन्धुओं का मानना है कि यह बात दिल्ली में जिनचन्द्रसूरिजी के योगिनी छल से (पट्टावली के कथानानुसार) स्वर्गवास हो जाने के कारण प्रसिद्धि में आई ज्ञात होती है।[2]

पूर्व वर्णित सप्त वरदान जिनदत्तसूरि को किसने दिये थे, इसके प्रत्युत्तर में भी विविध उल्लेख उपलब्ध होते हैं। प्राकृत प्रबन्धावली के अनुसार ये वर जिनदत्त की आराधना से आचार्य कन्छोलिय ने प्रदान किये थे। कतिपय पट्टावलियों में योगिनी और इन देवों के भिन्न-भिन्न वर देने और उनके फलीभूत होने में सप्त विद्वानों का निर्देश किया है। अधिकांश पट्टावलियों में ६४ योगिनियों द्वारा जिनदत्तसूरि को वरदान देनेका उल्लेख है। प्राकृत प्रबन्धावली में

---

१ विशेष :—वृद्धाचार्य प्रबन्धावली में जो सात वरदान उल्लिखित हैं, वे यत्किंचित् भिन्न हैं। उसके अनुसार— ···तेण जिणदत्तगणीणं सत्त वरा दिन्ना। तंजहा—तुह संघमज्झे एगो सड्ढो महड्ढिओ होही, गामे वा नगरे वा—इय पढम वरो।१। तुह गच्छे संजईणं रिउपुप्फं न हविस्सइ—बीओ वरो।२। तुह नामेण विज्जुलिया न पडिस्सइ—तइओ वरो।३। तुह नामेण आँधीवधूलाइ परिभवो टलिस्सइ—चउत्थो वरो।४। अग्गिथंभो पंचमो।५। सैन्यजलथंभो छट्ठो।६। सप्पविसो न पहविस्सइ।७।

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ६२

२ युग० जिनदत्तसूरि, पृ० ५०

तो उक्त चौसठ योगिनियों की घटना जिनप्रभसूरि के जीवन-वृत में उल्लिखित की है।

जिनदत्तसूरि के सम्बन्ध में प्रथमानुयोग ग्रन्थ-प्राप्ति का उल्लेख भी भिन्न-भिन्न रूप में मिलता है। यह प्रथमानुयोग समवायांगसूत्र का प्रथम अनुयोग है, जिसमें अर्हन्तों का वृत्त वर्णित हैं। उपाध्याय जयसागर के उल्लेखानुसार शासनदेव ने प्रसन्न होकर जिनदत्तसूरि को उज्जयनी नगरी के महाकालप्रसादस्थ शिलापट्ट में गुप्त रूप से आरक्षित प्रथमानुयोग सिद्धान्त ग्रन्थ प्रदान किया। यह ग्रन्थ दशपूर्वधर आचार्य कालकसूरि द्वारा विरचित तथा आचार्य सिद्धसेन दिवाकर पठित था।[1] उपाध्याय क्षमाकल्याण कृत पट्टावली में ग्रन्थ-प्राप्ति का साधन भिन्न निर्दिष्ट है। उसके अनुसार चित्रकूट के देवगृह के वज्रस्तम्भ में एक विविध मंत्राम्नाय ग्रन्थ था, जिसे जिनदत्तसूरि ने मन्त्रबल से ग्रहण किया। इसी प्रकार उज्जयनी के महाकाल प्रासाद के स्तम्भ से सिद्धसेन दिवाकर के ग्रन्थ को औषधि-प्रयोग से प्राप्त किया।[2] गणि सुमति के मतानुसार जिनदत्तसूरि को मन्त्र-ग्रन्थ की प्राप्ति आचार्य हरिसिंह से हुई थी।[3] उक्त प्रमाणों से यह तो निर्विवाद है कि आचार्य जिनदत्तसूरि ने एकाधिक अद्भुत ग्रन्थ प्राप्त किये थे, किन्तु वह विद्यागुरु के द्वारा प्राप्त किये थे, या शासनदेव के द्वारा अथवा मन्त्रबल से—यह नहीं कहा जा सकता।

३. सिन्धुदेश के जैन श्रावकों ने अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए जिनदत्तसूरि से निवेदन किया। तदर्थ जिनदत्त नेनिर्देश दिया कि तुम मकराणा जाओ और अमुक वेला में ३२ अंगुली परिमाण की प्रतिमा बनाकर लाओ, किन्तु मध्यवर्ती मार्ग में कहीं भोजन ग्रहण मत करना। उस प्रतिमा की प्रतिष्ठा से तुम सब

---

[1] गुरु पारतन्त्रयवृत्ति, सं० १४६०

[2] खरतर गुरु पट्टावली

[3] गणधरसार्द्धशतकवृहद्वृत्ति

लोग समृद्ध हो जाओगे। प्रतिमा-निर्मापित कराकर श्रावक लौट रहे थे, तो मार्ग में नागौर जनपद में विश्राम किया। तत्रविराजित शान्तिसूरि ने नागौर श्रावकों को कहा कि तुम लोग सिन्धु देश से समागत श्रावकों को जैसे-तैसे भोजन कराओ। सिन्धु श्रावकों ने जिनदत्तसूरि के निर्देश को अधिक महत्त्व नहीं दिया। वे भोजन करने चले गये और पीछे से शान्तिसूरि ने प्रतिमा की अञ्जनशलाका कर दी। (यद्यपि एक आचार्य के द्वारा ऐसा कपटपूर्ण कार्य आचार्यत्व की गरिमा के प्रतिकूल है।) सिन्धुश्रावकों को सफलता नहीं मिली। जिनदत्तसूरि ने उन्हें दूसरा उपाय बताया कि भटनेर के भगवान् महावीर मन्दिर स्थित मणिभद्र की प्रतिमा प्राप्त करो जिससे तुम्हारा वांछित सिद्ध होगा। श्रावक वर्ग ने आचार्य के निर्देश का पालन किया और वे भटनेर से मणिभद्र की प्रतिमा लेकर लौटे, किन्तु भटनेर निवासियों ने उनका पीछा किया। अतः उन्होंने प्रतिमा को पंच नदी में विसर्जित कर दिया। जब आचार्य को वस्तु स्थिति ज्ञात हुई तब वे पंच नदी से प्रतिमा प्राप्त करने के लिए स्वयं आये और मणिभद्र की स्तुति की। मणिभद्र ने प्रत्यक्ष होकर कहा कि मैं इस स्थान को छोड़कर अब अन्य स्थान पर नहीं जा सकता, किन्तु आप पर प्रसन्न होकर मैं यहीं पर रहता हुआ सान्निध्य प्रदान करूँगा। प्राप्त उल्लेखानुसार मणिभद्र ने आचार्य जिनदत्तसूरि को पूर्व संकेतित सात वरों में प्रथम सिंध देश के प्रति ग्राम में एक श्रावक विशेष समृद्धिशाली और दूसरों के सर्वथा निर्धन न होने का वरदान था।

अन्य उल्लेखानुसार तीन अन्य पीर भी आचार्य के भक्त थे। जब वे मरकर देव बने तो आचार्य के निर्देशानुसार वे पंच नदी पर निवास करने लगे। देरावर निवासी सोमराज भी जो कि आचार्य का परमभक्त था, भी स्वर्गवास होने पर आचार्य की आज्ञा से पंच नदी में रहने लगा। पट्टावलियों में उल्लिखित है कि सुलेमान गिरि का अधिष्टायक 'खोड़िया' क्षेत्रपाल भी इन पीरों के साथ

सम्मिलित हो गया और इस प्रकार पंच नदी पर पंच देवों का निवास हो गया और उनकी पूजा होने लगी। इसी प्रकार बावन बीर अभिधेयक देवगण भी आचार्य जिनदत्तसूरि के भक्त थे ऐसी सूचना प्राप्त होती है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि आचार्य जिनदत्तसूरि ने जो पंच नदी की साधना की थी उसका अन्य आचार्यों के चरित्र में भी उल्लेख मिलता है। श्री अभयजैन ग्रन्थालय में प्राप्त एक हस्तलेख के अनुसार आचार्य जिनसमुद्रसूरि तथा सम्राट अकबर प्रति बोधक आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने भी पंच नदी की साधना की थी।

यह पंच नदी साधन मंत्री कर्मचन्द्र से जिनदत्तसूरि चरित्र सुनकर अकबर के आग्रह से किया गया और इसका विस्तार से वर्णन 'युग-प्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि' ग्रन्थ में देखना चाहिए।

उपाध्याय क्षमाकल्याण कृत पट्टावली में वर्णित है कि एकदा आचार्य जिनदत्तसूरि अजमेर पधारे। वहाँ दैवसिक प्रतिक्रमण के समय विद्युत् पात हुआ। तो आपने उसे स्तंभित कर दिया। इस पट्टावली के अनुसार आचार्य ने विद्युत को अपने भिक्षा पात्र/काष्ठ पात्र के नीचे दबा दिया और प्रतिक्रमण पूर्ण हो जाने के बाद उसे छोड़ दिया। काष्ठ पर आज भी विद्युत अप्रभावी है। तब विद्युत अधिष्ठातृ देवी ने आचार्य के समक्ष यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि "आचार्य जिनदत्तसूरि का नाम स्मरण करने पर विद्युत्पात न होगा।" किन्तु आगे • वरदानों में भी पाँचवां इसका उल्लेख है। आज भी राजस्थान में बिजली चमकने पर श्री जिनदत्तसूरि की दुहाई दी जाती है जिससे विद्युत् पात नहीं होता। उ० क्षमा कल्याणजी से सौ वर्ष पूर्व दीक्षित उ० धर्मवर्द्धन (जन्म सं० १७००) का अति प्रसिद्ध छंद देखिए।

बावन्न वीर किये अपणे वस चौसठ जोगिणि पाय लगाई।
व्यंतर खेचर भूचर भूतरू प्रेत पिशाच पलाई ॥

बीज तटक्क भटक्क अटक्क रहे जु खटक्क न खाई।
कहै ध्रमसीह लंघे कुण लीह दिये जिनदत्त की एक दुहाई।।
न पड़े बिजली जसु नामै हो।
जिनदत्तसूरि स्तवन सं० १७६८

आचार्य जिनदत्तसूरि के हाथी लूणिया नामक एक भक्त श्रावक था। आचार्य उसे सम्मानित करते तो अन्य श्रावकों को ईर्ष्या होती, किन्तु आचार्य का कथन था कि यह श्रावक भावी काल में संघ के लिए कल्याणकर सिद्ध होगा। उस समय वहाँ कँवलागच्छ का विशेष प्रभाव था किन्तु जब वे खरतरगच्छ का अधिक प्रसार प्रचार देखा तो ईर्ष्या से जलभुन उठे। अतः उन्होंने वहाँ के नवाब को प्रलोभन देकर खरतरगच्छानुयायियों को हानि पहुँचाने का प्रयास किया। वे कहे कि जिनके तिलक धारण किया हो उन्हें आप कँवलागच्छीय समझें और जो तिलक रहित हो उन्हें खरतर-गच्छीय समझें। विश्वस्त सूत्रों से हाथीसाह को उक्त तथ्य का संकेत प्राप्त हो गया। हाथीसाह ने नवाब की पत्नी को समझाकर अपनी रक्षा की माँग की। आचार्य के आशीर्वाद से हाथी को सफलता मिली। परवर्ती विद्वानों के अनुसार जिनदत्तसूरि ने उसी समय से प्रतिक्रमण में 'अजितशांति स्तोत्र' पठन का हाथीसाह को आदेश दिया। बोथरा गोत्रवान लोगों को 'जय तीहूअण' और गणधर चौपड़ा गोत्रवान लोगों को 'उपसर्गहर स्तोत्र' पठन का।

इसी प्रकार एक बार आचार्य जिनदत्तसूरि का मुलताननगर में प्रवेश बड़ी धूमधाम के साथ हुआ तब अम्बड़ व्यंग्य कसा कि यदि आप पाटननगर में इस प्रकार प्रवेश करें तो मैं आपका प्रभाव समझूँगा। आचार्य ने कहा ऐसा ही होगा किन्तु तुम मस्तक पर पोटली लिए हुए/भार ढोते हुए मिलोगे। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जिनदत्तसूरि पाटन आये। वहाँ उनका भव्य नगर प्रवेश हुआ

और अम्बड़ उन्हें उसी अवस्था में मिला। वह बड़ा लज्जित हुआ। अपने वैर को शान्त करने के लिए उसने महाराज को विषमिश्रित चीनी का जल दिया। आचार्य के निर्देश से आभू भणशाली ने तत्काल अपने शीघ्रगामी ऊँटों को भेजकर पालनपुर से निर्विष मुद्रिका/विषापहारी रस कुंपक मंगाकर विष प्रभाव दूर किया। अंबड़ के इस दुष्कृत्य की सर्वत्र निन्दा हुई। वह मरकर व्यन्तर हुआ। जिनदत्तसूरि ने अम्बड़ के व्यन्तरोपद्रव दूर किये।

इसी प्रकार उच्चनगर में आचार्य श्री के प्रवेश उत्सव में एक सात वर्ष का बालक अधिक भीड़ होने के कारण व्याकुल होकर मर गया/मृत प्रायः बेहोश हो गया। म्लेच्छों ने जैनों पर दोषारोप किया। आचार्य ने जैन धर्म की गरिमा को ध्यान में रखकर उस मृत बालक को पुनः जीवित कर दिया/बेहोश बालक को होश में ला दिया। म्लेच्छों ने प्रभावित होकर आचार्य से मांस भक्षण त्याग का व्रत ग्रहण किया।

इस प्रसंग में जो म्लेच्छों का उल्लेख है, अन्य पट्टावलियों में मुगलों/मुगल पुत्रों का उल्लेख है किन्तु ये उल्लेख अप्रमाणित है क्योंकि इस प्रदेश में उस समय तक मुगलों का आगमन ही नहीं हुआ था।

एकदा आचार्य जिनदत्तसूरि नारनोल गये। वहाँ श्रीमाल श्रावक के दामाद का विवाह के समय निधन हो गया। लोगों ने वधू को उसके साथ चिता प्रवेश के लिए आग्रह किया। किन्तु वह प्रज्वलित चिता की भीषण ज्वाला से भयभीत होकर आचार्य के चरणों में आ गिरी। आचार्य ने उसके पिता को समझा कर उसे सन्मार्गारूढ़ किया। पश्चात् उसे दीक्षा दे दी। नव दीक्षिता द्वारा यह पूछे जाने पर कि मेरी कितनी शिष्यायें होंगी, आचार्य ने कहा कि जितनी तुम्हारे शिर में जूँ हैं उतनी ही तुम्हारी शिष्यायें होंगी। उसके सिर में ७०० जूँ निकलीं अतः आगे चलकर विक्रमपुर में उसकी

सात सौ शिष्यायें हुई। इस प्रकार आचार्य की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

एक बार एक गाय बड़नगर के एक जैन मंदिर में मर गयी। तब ब्राह्मणों ने यह कहकर जैनों की खिल्ली उड़ाई कि जिनदेव गौ घातक है। जैन शासन की अवहेलना होते देख श्रावकों के आग्रह से आचार्य ने परकाय प्रवेशिनी विद्या द्वारा गाय को जीवित कर दिया। गाय स्वयंमेव शिवालय की ओर चली गयी और वहाँ शिवलिंग के पास जाकर गिर पड़ी। इससे ब्राह्मण हास्य-पात्र बने। अंत में ब्राह्मणों ने आचार्य से क्षमा प्रार्थना की और यह प्रतिज्ञा की कि भविष्य में बड़नगर में पधारने वाले खरतरगच्छ के आचार्यों का हम लोग भी प्रवेशोत्सव करेंगे। जिनदत्त ने ब्राह्मणों के निवेदन पर गाय को पुनर्जीवित कर दिया।

यद्यपि इस प्रसंग का उल्लेख खरतरगच्छीय पट्टावलियों में मिलता है। किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यही प्रसंग वायड़ गच्छीय आचार्य जीवदेवसूरि के संबंध में भी प्राप्त होता है। प्रभा-वकचरित्र, पं० अमरचन्द रचित बालभारत, पद्मानन्द काव्य प्रशस्ति तथा राजशेखरसूरि विरचित प्रबन्धकोष आदि ग्रन्थों के अनुसार यह घटना जीवदेवसूरि से संबंधित है।

परवर्ती एक पट्टावली के अनुसार जिनदत्तसूरि के व्याख्यानों को श्रवण करने के लिए देवों का आगमन भी होता था।

मुनि ज्ञानहर्ष रचित जिनदत्तसूरि अवदात छप्पय में वर्णित है कि आचार्य जिनदत्तसूरि की कृपा से सीहोजी राठौड़ ने मरुभूमि में राज्य स्थापित किया। यही कारण है कि राठौड़ नरेश सदैव खरतरगच्छाचारियों को सम्मान देते आये हैं।[१]

---

१ द्रष्टव्य राठोड़वंशावली

सीहोजी राठोड़ की भांति ही अन्य चमत्कारिक घटनाओं का वर्णन भी यत्रतत्र पाया जाता है जैसे : भक्त श्रावक की डूबती नौका को तिराना, जलतरणी कम्बल पर बैठ कर पंचनदी पार होना आदि।

प्रतिबोध एवं गोत्र-स्थापना :—आचार्य जिनदत्तसूरि एक ऐसे राष्ट्रसन्त हैं, जिन्होंने लाख से अधिक लोगों को जैनत्व अंगीकरण करवाया। जैन-परम्परा के समग्र इतिहास में इनकी टक्कर का और कोई आचार्य हुआ हो, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इन्होंने सवा लाख या एक लाख तीस हजार नये जैन बनाये थे। जिनदत्त ने छत्तीस राजवंशों को प्रतिबोधित किया। उन्हें जैन बनाकर विविध परिचयात्मक गोत्र बनाये।

जिनदत्तसूरि ने सवा लाख या एक लाख तीस हजार नये जैन किस प्रदेश में बनाए थे इस सम्बन्ध में विभिन्न उल्लेख मिलते हैं। अज्ञात लेखक कृत एक पट्टावली के अनुसार जिनदत्तसूरि ने ओसियाँ में लक्षाधिक जैन बनाए थे। प्राकृतप्रबन्धावली में उल्लिखित है कि आचार्य जिनदत्तसूरि ने सिन्धुप्रदेश में विहार करके एक लाख अस्सी हजार घरों को प्रतिबोध देकर ओसवाल बनाया। सूरि परम्पराप्रशस्ति में लिखा है कि विक्रमपुर में संख्याबद्ध माहेश्वरी आदि कुटुम्बों ने जिनदत्तसूरि से जैनधर्म स्वीकृत किया।[१]

अगरचन्द नाहटा व भंवरलाल नाहटा के निष्कर्षानुसार विक्रमपुर

---

१ सवा लाख खरतर जं॰ यु॰ प्र॰ जगत्गुरु पूज्य श्री पूज्य गुरु श्री जिनदत्त-सूरिजी कीधा।

—श्री जिनदत्तसूरि प्रतिबोधित गोत्र, पत्र-७

व उसके आस-पास के मरु-मण्डल और सिन्धुमण्डल में आपके प्रतिबोधित श्रावकों की संख्या लक्षाधिक होगी। मैं भी नाहटा बन्धुओं के अभिमत से सहमत हूँ। कारण जिनदत्तसूरि ने विक्रमपुर आदि क्षेत्रों में रोगोपद्रव शान्त किये, आश्चर्यजनक घटनाएँ घटित हुई, लगभग ५०० पुरुषों और ७०० स्त्रियों ने श्रमण मार्ग स्वीकार किया, विविध धार्मिक अनुष्ठान हुए। जहाँ विशेष धर्म-प्रभावना हुई हो, वहाँ के निकटवर्ती क्षेत्रों का आचार्य से प्रभावित होना अधिक समीचीन जान पड़ता है।

आचार्य जिनदत्तसूरि ने जिन लोगों को जैन बनाया था, उनमें अधिकांशतः राजपूत थे। सामाजिक व्यवस्था के लिए जिनदत्त ने नूतन जैनों को भिन्न-भिन्न गोत्रान्तर्गत आबद्ध किया। इन गोत्रों की सूची प्रस्तुत करनेवाला एक प्राचीन पत्र प्राप्त हुआ है, जो इस प्रकार है—

श्री सुधर्मसामि परम्परा खरतरगच्छना भट्टारक जंगम युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि प्रतिबोधित छतीस राजकुली सवा लाख श्रावक खरतर तेहना गोत्र लिखतं।

१ श्री राय भणसाली मन्त्री आभू साखि गोत्र बद्ध खरतर सोलंकी राजपूत
२ षड भणसाली गोत्र बद्ध खरतर देवरा राजपूत
३ कांकरिया गोत्र खरतर भाटी राजपूत
४ कमरदिया बद्ध गोत्र खरतर आकोल्या अड़क खरतर
५ मणहड़ा गोत्रबद्ध खरतर श्री पन्ना अड़क खरतर
६ नवलखा दसम नी दीहाड़ी वाला गोत्र बद्ध खरतर साहणो साहथी
७ छाजहड़ दसम री दिहाड़ी वाला गोत्र बद्ध खरतर सं० १२४५ राठोड़ धांधल उधरणसाहथी खरतर
८ आमेचा दसम री दिहाड़ी वाला खरतर पमार राजपूत

९ साउंसखा बद्ध गोत्र खरतर

१० डांगी गोत्र मध्ये काजलोत सर्व खरतर

११ रांका, सेठिया तथा काला सर्व खरतर

१२ खुथड़ा कुद्दाल गोत्र बद्ध खरतर

१३ कूकड़ चोपड़ा गोत्र बद्ध खरतर जाति पड़िहार रजपूत मंडोवरा को० राव चूंडा…कह्वाणा

१४ गणधर चोपड़ा गोत्र खरतर जाति कायथ हिंसारी गण कह्वाणा

१५ पीतलिया गोत्र वद्ध खरतर दसमि नी दिहाड़ी मानै ते खरतर

१६ कान्हउगा गोत्र बद्ध खरतर

१७ गूँदवछा मूँ० दसम नी दिहाड़ी मानै ते गोत्र खरतर।

१८ वेताला बद्ध गोत्र खरतर

१९ नाहटा तथा बापणा थुल्ल ते सर्व १० दिहाड़ी करे। तेरे १३ साखि ते खरतर

२० सोनिगरा दसम नी दिहाड़ी वाला खरतर

२१ बोहिथरा दोनु भाई गोत्र बद्ध खरतर देवड़ा रजपूत राव सामतसी-रा केड़ सोनगर वास

२२ बुचा गोत्र बद्ध खरतर सोभतिया अड़क खरतर

२३ वैद बोहड़ वर्द्धमान शाखाबद्ध खरतरसेवड़िया

२४ संखवालेचा खरतर कोचर संघवी ना केड़ ना खरतर गोत्र बद्ध

२५ माल्हू गोत्र बद्ध खरतर पमार जाति प्रल्ह राजा रजपूत चउह्वाण २ मल्हाला अड़क फोफलिया

२६ लोढा १० दिहाड़ीवाला खरतर राय १ कट्ट २

२७ वरढिया मध्ये दरड़ा बद्ध खरतर

२८ चंडालिया गोत्र दसम री दिहाड़ी करै ते खरतर

२९ आयरिया गोत्र बद्ध खरतर

३० ढींक बद्ध गोत्र खरतर

३१ सीसोदिया नडुलाई वाला खरतर

३२ डांगरेचा बद्ध गोत्र खरतर

३३ फसला गोत्र बद्ध खरतर

३४ सिंधुड खरतर साउंसखे मिले

३५ भाटिया गोत्र खरतर

३६ सोनी गोत्र अड़क खरतर

३७ पंचकुदाल बहुरा गोत्र बद्ध खरतर

३८ नवकुदाल बहुरा गोत्र बद्ध खरतर

३६ भेतड़ा गोत्र खरतर

४० महतीयाण लघु शाखा ऊकेश खरतर

४१ खांटहड़ दसम री दिहाड़ी वाला खरतर

४२ माधवाणी गोत्र मदारिया मध्ये खरतर

४३ राखड़िया बहरा गोत्र कटारिया खरतर

४४ लूणिया गोत्रबद्ध खरतर जाति मूंधड़ा महेसरी

४५ डागा खरतर मूंधड़ा जाति महेसरी

४६ माभू १ पारिख २ छोहरिया ३ गदहिया ४ सेलुत ५ भूरा ६ रीहड़ ७ खरतर राठी महेसरी

४७ खुथड़ा १ मालवीया २ डागलिया ३ चम्म ४ गोलवछा ५ वलाही ६ बापणा ७ दसम री दिहाड़ी

४८ जांगड़ा गोत्र खरतर बुबकिया गोत्र खरतर

४६ मगदिया १ धाड़ीवाहा २ वेद ३ दोसी ४ दरड़ा गोत्र खरतर महेसरी

५० कोठीफोड़ा खरतर

५१ पोरवाड़ पांचाइणिया गोत्र खरतर

५२ अथ सखा गोत्र मांहे इतरा मिलै :—

बुचा १ चम्म २ ककड़ ३ गादहिया ४ गोलवछा ५ पारिख ६ भटाकीया ७ नाब टबुबकिया ६ चोरवेड़िया १० सेल्होत ११ खुथड़ा इतरा १२ गोत्र ।[१]

---

१ उद्धृत, खरतरगच्छ के प्रतिबोधित गोत्र और जातियाँ, पृष्ठ २७-२८

गोत्र-स्थापन के कतिपय सन्दर्भों को यहाँ आकलित किया जा रहा है। मण्डोवर के राजा नानुदे के पुत्र को सर्प ने दंश लिया। जिनदत्त के निर्देश से कुकड़ी गाय का नवनीत चोपड़ने के कारण निर्विष हुआ। कूकड़ चोपड़ा गोत्र का सम्बन्ध इसी घटना से है। मन्त्री गुणधर ने नवनीत चोपड़ा, अतः गुणधर का गोत्र 'गुणधर चौपड़ा' कहलाया। 'गांधी' गोत्र इसी की एक शाखा है। राजपुत्र सांडा से 'सांड' हुए। चीपड़ पुत्र से 'चीपड़ा' हुए। इसी प्रकार कोठारी, धूपिया, बूबकिया, जोगिया, बडेर, हाकिम, दोषी आदि गोत्र स्थापित हुए। जिनदत्तसूरि द्वारा स्थापित बाफणा गोत्र का प्राचीन नाम बहुफणा प्राप्त होता है। जीवन कुमार और सच्चू कुमार का जालोर-नरेश के साथ युद्ध हुआ। जिनदत्त के बहुफण पार्श्वनाथ के शत्रुंजयी मन्त्र के प्रभाव से जीवन और सच्चू विजयी हुए। जिनदत्त ने उनका गोत्र बहुफणा/बाफणा स्थापित किया।

महाराज पृथ्वीराज के सेनापति जयपाल थे। जयपाल ने छह बार काबुल-बादशाह पर विजय पायी। युद्धस्थल में पीछे न हटने से जिनदत्त ने इनका गोत्र 'नाहटा' दिया।

बाफणा-गोत्र से अनेक शाखाएँ अनुष्यूत हुईं—रायजादा, भूआता, घोडबाड, मरोड्डीया, हुंडिया, जांगड़ा, थुल्ल, सोमलिया, समूलिया, बाहंतिया, वसाहा, मीठड़िया, धतूरिया, पटवा, बाघमार भाभू, नाहऊसरा, धांधल, नानगाणी, मकेलवाल, साहला, दसोरा, कलरोही, खोखा सोंनी, तोसालिया, भूंगरबाल, कोटेचा, संभूआता, कुचेरिया, जोटा, महाजनीया, डुगरेचा, मगर्दिया, कुबेरियाँ आदि।

चंदेरी नगरी के राजकुमार जिनदत्तसूरि के अनुयायी थे। अम्बदेव द्वारा चोरों को पकड़कर उनके पैरों में बेड़ी डाल देने के कारण चोरवेड़िया कहलाया। सम्भवतः वर्तमान में प्रचलित जाति चौरड़िया इसी चोरवेड़िया का अपभ्रंश है।—सोनी, पीपलिया, फलोदिया,

नाणी, धन्नाणी, तेजाणी, पोपाणी, रामपुरिया, कक्कड़, मकड़, लुंटकण, सीपाणी, भक्कड़, मोलाजी, देवसयाणी, कोबेरा, चगलाणी, भट्टारकिया, सद्दाणी आदि गोत्र इसी चोरवेड़िया से प्रसृत हुए हैं।

चन्देरी नगरी के राजा खरहत्थ के पुत्र निम्बदेव द्वारा भटनेर गाँव में न्याय करने से उनका गोत्र भटनेरा चौधरी प्रसिद्ध हुआ।

राजा भैंशाशाह के पाँच पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र ज्योतिष मार्तण्ड था चित्तौड़ नरेश द्वारा श्रावण भाद्र पद का भविष्य पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि सावन सूखा जाएगा और भाद्रपद हरा होगा। उनकी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होने पर जिनदत्तसूरि ने उनका गौत्र सावणसुखा रखा। भैंशाशाह के दूसरे पुत्र गोला और तीसरे पुत्र वच्छराज से गोलेच्छा गोत्र उत्पन्न हुआ। भैंशाशाह के चतुर्थ पुत्र पाशु रत्नपारखी होने के कारण पारख कहलाये। उनके पाँचवे पुत्र गद्दाशाह के वंशज गद्दहिया कहलाये। आसाणी गोत्र आसपाल से प्रगट हुआ।

वस्तुतः राजा खरहत्थ के सम्पूर्ण राज-परिवार पर आचार्य जिन-दत्त का अमेय प्रभाव था। इनसे लगभग पचास गोत्र उत्पन्न हुए यथा—बुब्बा, फाकरिया, घंटेलिया, कांकड़ा, साहिला, संखवालेचा, कुरकच्चिया, सिंधड़, कुंभटीया, ओस्तवाल, गुलगुलिया आदि।

सिन्धु देश नरेश अभयसिंह भाटी आचार्य जिनदत्तसूरि से प्रभावित थे। अभयसिंह ने एक बार आचार्य से निवेदन किया कि देश की बाढ़ से रक्षा करें। आचार्य के प्रभाव से जल-प्रकोप शान्त हो गया। राजा द्वारा 'पानी आ-रया है' (पानी आ रहा है) कहने के कारण अभयसिंह को आचार्य ने 'आयरया' गोत्र दिया। अभय-सिंह ने दस हजार भाटियों सहित जिनदत्त से जैन धर्म अंगीकार किया। इसी राजा की परम्परा में लूणा नामक राजा हुआ। लूणावत गोत्र का उसी राजा से सम्बन्ध है।

वि० सं० ११६६ में लोद्रवपुर में भाटी राजा धर ने आचार्य जिनदत्तसूरि से भाण्डशाला में धर्म श्रवण कर बारह व्रत अंगीकार किये अतः उनका गोत्र भाण्डशाली/भन्साली स्थापित हुआ।

रत्नपुरी नरेश धनपाल का जिनदत्त ने सर्प विष दूर किया था। धनपाल ने रतनपुरा में आचार्य श्री का चातुर्मासिक प्रवास कराया और उनसे तत्वज्ञान प्राप्त कर जैन श्रावक हो गया आचार्य जिनदत्त ने नगर के नाम से उस राजवंश का गोत्र रतनपुरा स्थापित किया। कटारिया, रामसेना, बलाई, वोहरा, कोटेचा, सांभरिया, नराणगोता, भलाणिया, सापद्राह, मिनी आदि गोत्र इसी रतनपुरा गोत्र की शाखाएँ हैं। राजा धनपाल के साथ अन्य अनेक क्षत्रियों ने जैनत्व स्वीकार किया था। बेड़ा, सोनगरा, हाड़ा, देवड़ा, काच, नाहर, मालडीचा, बालोत, बाघेटा, इवरा, रासकिया, साचोरा, दुदणेचा, माल्हण, कुदणेचा, पावेचा, विहल, सेंभटा, काबलेचा, खीची, चीवा, रापडिया, मेलवाल, वालीचा ये चौतीस गोत्र उन्हीं क्षत्रियों से सम्बन्धित हैं।

रत्नपुर के राजा धनपाल का मंत्री माल्हदे था जो माहेश्वरी था। माल्हदे के एक पुत्र का अर्द्धांग रोग पीड़ित था। आचार्य श्री जिनदत्त ने योगनियों को आदेश देकर उसको रोग मुक्त कर दिया। माल्हदे ने जैनधर्म अंगीकार किया। उसका माल्हू गोत्र प्रसिद्ध हुआ।

धनपाल राजा का भंडारी राठी माहेश्वरी भाभू ने भी जिनदत्त से जैनत्व स्वीकार किया जिससे बुबापारख हुए। मूंधड़ा महेश्वरियों से 'डागा' गोत्र उद्भूत हुआ। रत्नपुर निवासी राठियों से ही भोरा, रीहड़, छोड़िया, सेलोत आदि लगभग पचास गोत्र निकले थे।

एक बार रांका-बांका नामक सद्गृहस्थ आचार्य जिनदत्तसूरि के प्रवचन में आए। प्रवचन से प्रभावित हुए और बारह व्रतधारी श्रावक बने। ऐसा करने से उन्हें अपार समृद्धि प्राप्त हुई। इन्हीं

रांका-बांका के वंशजों से सेठिया, काला, गोरा, बोंक, सेठ दक ये छः गोत्र निकले।

जैसलमेर के राव जैतसी भाटी का पुत्र केल्हण कुष्ठ रोग से पीड़ित था, जैतसी के निवेदन पर आचार्य जिनदत्तसूरि जैसलमेर पधारे। आचार्य श्री की केल्हण के शरीर पर दृष्टि पड़ने से उसका शरीर कोढ़ मुक्त हो गया। केल्हण आचार्य श्री का परम भक्त बन गया। आचार्य श्री ने सं० ११८७ में केल्हण से राखेचा गौत्र स्थापित किया। केल्हण के वंशज पुगल गाँव में जाकर रहने लगे। अतः पुगलिया कहलाये।

मुलतान नगर में मूंधड़ा महेश्वरी धींगड़मल के पुत्र लूणा को एक बार किसी सर्प ने डंस लिया था। आचार्य श्री ने उसका विषोपचार किया। वे आचार्य श्री के परम भक्त बने एवं जैनत्व स्वीकार किया। आचार्य श्री ने 'लूणा' से लूणिया गोत्र की स्थापना की।

विक्रमपुर में सोनिगरा ठाकुर हीरसेन निवास करता था। जिसका पुत्र एक क्षेत्रपाल से सन्त्रस्त था। जिनदत्तसूरि की कृपा से वह पूर्णतया स्वस्थ हो गया और समग्र परिवार ने जैनत्व स्वीकार किया। सं० ११६७ में आचार्य श्री ने सोनिगरा गोत्र स्थापित किया। हीरसेन के पुत्र पीउला से पीपलिया गोत्र निकला।

अबांगढ़ में पमार क्षत्रिय राजा बोरड़ शिव दर्शनाभिलाषी था। जिनदत्तसूरि ने उसे शिव के प्रत्यक्ष दर्शन करवाये। शिव ने जिनदत्तसूरि को ही सद्गुरु कहा। अतः राजा जिनदत्त का भक्त बन गया। राजा ने जैनत्व स्वीकार किया उसका वंश बोरड़ हुआ।

सं० ११७६ में जिनदत्तसूरि ने कठोतिया ग्राम में अजमेरा नामक व्यक्ति को भगन्दर रोग से मुक्त किया था उसके जैन बनने पर उससे कठोतिया गोत्र पनपा।

खाटू निवासी चौहान बुधसिंह एवं अड़पायतसिंह ने सं० ११०१ में जिनदत्तसूरि से जैनत्व स्वीकार किया। उनसे अबोड़ा गोत्र प्रकट हुआ एवं बुधसिंह के पुत्र खाटड़ से बटोल/खटेड़ गोत्र निकला।

अजमेर के समीपस्थ भाखरी में गड़वा नामक ब्राह्मण भी जिनदत्त से प्रतिबोधित हुआ। उससे गडवाणी एवं भडगतिया गोत्र पनपा।

सपादलक्ष देश के रुण गाँव में प्रधान ठाकुर वेगा को जिनदत्तसूरि की कृपा से पुत्र प्राप्ति हुई। एतदर्थ उसने जैनत्व अंगीकार किया। सं० १२१० में वेगा के वंशज रूण गाँव के नाम से 'रूणवाल' गोत्र से प्रसिद्ध हुए।

देलवाड़ा का राजा बोहित्थ था। सं० ११९७ में जिनदत्तसूरि देलवाड़ा में पधारे। गुरुवर की महिमा सुनकर बोहित्थ भी सपरिवार उनके पास गया एवं प्रतिबोधित होकर जैनत्व स्वीकार किया। बोहित्थ से बोहित्थरा गोत्र प्रकट हुआ।

यद्यपि जिनदत्त ने अनगिनत नये जैन बनाये, किन्तु गलत तरीकों से या जोर-जबरदस्ती से नहीं। गलत तरीकों से समुदाय बढ़ाने के वे विरोधी थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि सूकरी के बहुत सन्तानें होती हैं, किन्तु खाने के लिए क्या मिलता है? असत् तरीकों से श्रावकों की संख्या में बढ़ोतरी करना कभी श्रेयस्कर नहीं है। वह एक श्रावक भी अच्छा है, जो सही प्रतिबोध पाकर बना है।

शिष्य परिवार—जिनदत्तसूरि का शिष्य-प्रशिष्य-समुदाय अत्यन्त विस्तीर्ण था। यद्यपि उनके शिष्यों की न तो पूरी सूची है और न ही गणना का उल्लेख है, किन्तु प्राप्त उल्लेखानुसार उनके अनुमानतः सहस्राधिक शिष्य-प्रशिष्य थे। मात्र विक्रमपुर में आपके पास १२०० दीक्षाएँ एक साथ हुई थीं। भला, जिस आचार्य के द्वारा एक समय में सैकड़ों दीक्षाएं होती हों, उसके शिष्यों की गणना हजारों में होनी स्वाभाविक है।

जिनदत्तसूरि ने अपने शिष्य-प्रशिष्यों में से जिनचन्द्र, जीवदेव, जयचन्द्र, जयसिंह को आचार्य-पद, जिनशेखर, जीवानन्द को उपाध्याय-पद, जिनरक्षित, शीलभद्र, स्थिरचन्द्र, ब्रह्मचन्द्र, विमलचन्द्र, वरदत्त, भुवनचन्द्र, रामचन्द्र, मणिभद्र को वाचनाचार्य-पद और श्रीमती, जिनमती, पूर्णश्री, जिनश्री, ज्ञानश्री को महत्तरा-पद पर आरूढ़ किया था। जिस आचार्य की परम्परा में एक साथ अनेक आचार्य, उपाध्याय, वाचनाचार्य, महत्तरा आदि पदधारी हों, वह परम्परा निश्चित रूप से समृद्धिशाली एवं विकसित कही जाएगी।

स्वर्गवास—आचार्य जिनदत्तसूरि का स्वर्गवास ७९ वर्ष की आयु में अनशन पूर्वक हुआ था। वि० स० १२११ आषाढ़ शुक्ला ११ उनकी स्वर्गारोहण तिथि है एवं अजमेर उनका स्वर्गारोहण स्थल है।[1] आज भी अजमेर में उनकी उपासना के लिए भव्य दादावाड़ी विद्यमान है।

साहित्य—आचार्य जिनदत्तसूरि ने साहित्य सर्जन भी किया था। यद्यपि उनका साहित्य विपुल नहीं है, किन्तु जितना भी है, वह आपके साहित्यक जीवन को उजागर करने में कम नहीं है। अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा का अभिमत है कि सूरि महाराज ने लोक हितार्थ बहुत से प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत भाषा के ग्रन्थ बनाये। वे ग्रन्थ पद्य-परिमाण में छोटे होते हुए भी अर्थ में अतिशय गम्भीर हैं। जिस प्रकार आपश्री के उपदेश एवं अन्य कार्यकलाप असाधारण प्रभावशाली थे, उसी प्रकार आपके ग्रन्थ भी बड़े ही सप्रभावी हैं। सूरिजी की रचनाओं में उनकी विद्वत्प्रतिभा और अपूर्व व्यक्तित्व स्पष्ट झलक रहा है।[2]

---

१ संवत बारह इग्यार समइ, अजयमेरुपुर ठाण।
इग्यारसि आसाढ़सुदि, सग्गिपत्त सुह झाण॥
—श्री जिनदत्तसूरि स्तुति, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृष्ठ ४

२ युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि, पृ० ५५-५६

जिनदत्तसूरि ने निम्न ग्रन्थों की रचना की थी—

स्तुतिपरक रचनाएँ :

१. गणधरसार्द्धशतक, भाषा प्राकृत, पद्य १५०
२. गणधरसप्ततिका, भाषा प्राकृत, पद्य ७५
३. सर्वाधिष्ठायी स्तोत्र (तंजयउस्तोत्र), भाषा प्राकृत, पद्य २६
४. सुगुरु पारतन्त्र्य-स्तोत्र (मयरहियंस्तोत्र) भाषा प्राकृत, पद्य २१
५. विघ्नविनाशीस्तोत्र (सिग्घपवहरउ-स्तोत्र), भाषा प्राकृत, पद्य १४
६. श्रुतस्तव, भाषा प्राकृत, पद्य २७
७. अजित शान्तिस्तोत्र, भाषा संस्कृत, पद्य १५
८. पार्श्वनाथ मन्त्रगर्भितस्तोत्र, भाषा प्राकृत, पद्य ३७
९. महाप्रभावक स्तोत्र, भाषा प्राकृत, पद्य ३
१०. चक्रेश्वरी स्तोत्र, भाषा संस्कृत, पद्य १०
११. योगिनी स्तोत्र
१२. सर्वजिन स्तुति, भाषा संस्कृत, पद्य ४
१३. वीर-स्तुति, भाषा संस्कृत, पद्य ४

उपदेशपरक एवं आचारपक्षीय रचनाएँ

१४. सन्देह दोलावली, भाषा प्राकृत, पद्य १५०
१५. उत्सूत्र पदोद्घाटन कुलक, भाषा प्राकृत, पद्य ३०
१६. चैत्यवन्दनकुलक, भाषा प्राकृत, पद्य २८
१७. उपदेशकुलक, भाषा प्राकृत, पद्य ३४
१८. उपदेशधर्म-रसायन, भाषा अपभ्रंश, पद्य ८०
१९. कालस्वरूप कुलक, भाषा अपभ्रंश, पद्य ३२
२०. चर्चरी, भाषा अपभ्रंश, पद्य ४७

अन्य फुटकर रचनाएँ

२१. अवस्था कुलक
२२. विंशिका

२३. पद्व्यवस्था
२४. शान्ति पर्व विधि, पत्रक
२५. वाड़ी कुलक, पद्य २५
२६. आरात्रिक वृत्तानि, पद्य १३
२७. अध्यात्म-गीतानि

उक्त सभी रचनाओं में सबसे बड़ी कमी यह है कि किसी भी रचना का रचनाकाल उल्लिखित नहीं है। अतः रचना निर्माण का पूर्वापरक्रम नहीं बताया जा सकता। मुनि कान्तिसागर के अध्ययनानुसार पद्व्यवस्थापत्र उनकी प्रथम रचना होनी चाहिये। कारण, इस पर चैत्यवासियों का आंशिक प्रभाव स्पष्ट है।[1]

पूर्व वर्णित सत्ताईस रचनाओं के अतिरिक्त विद्वानों ने जिनदत्तसूरि की और रचनाएँ भी मानी । यथा—

१. बावन तोला पाव रत्ती कल्प—हेमकल्प
२. जीवानुशासन वृत्ति
३. मोहनलाल दलीचन्द्र देसाई के अनुसार पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति
४. धनपतिसिंह भणसाली के उल्लेखानुसार पद्स्थापनविधि प्रवोधोदय, अध्यात्मदीपिका, पट्टावली—ये चार रचनाएँ
५. शेरसिंह गोडवंशी के अनुसार शकुनशास्त्र

किन्तु इन सभी रचनाओं के सम्बन्ध में अगर चन्द नाहटा और भंवरलाल नाहटा का लिखना है कि ये रचनाएँ जिनदत्तसूरि की नहीं है।

समय-संकेत—आचार्य दिनदत्तसूरि का जन्म वि. सं. ११३२, वि. सं. ११४१, आचार्य वि. सं. ११६९ एवं स्वर्गवास वि. सं. १२११ में हुआ था। इस आधार पर वे बारहवीं तेरहवीं सदी के श्रेष्ठतम आचार्य सिद्ध होते हैं।

---

[1] युग० जिनदत्तसूरि, प्रस्तावना, पृ. ३८

जिनशासन-शिरोमणि आचार्य जिनशेखरसूरि

आचार्य जिनशेखरसूरि खरतरगच्छ की रुद्रपल्लीय शाखा के प्रथम प्रवर्तक थे। साहस और स्वाभिमान इनके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता दिखाई देती है। भले ही वैचारिक मान्यता भेद के कारण इन्होंने अपनी नयी शाखा प्रवर्तित की, किन्तु समाज पर इनके प्रभुत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जीवन-वृत :—आचार्य जिनशेखरसूरि का जन्म रुद्रपल्ली/रुद्रोली में हुआ। इनके कौटुम्बिक जन इसी प्रदेश में रहते थे। अतः इनके इस प्रदेश में अनेक चातुर्मास हुए। ये आचार्य जिनवल्लभ के प्रमुख शिष्य एवं प्रतिष्ठित आचार्य थे। इनका विहार-क्षेत्र अधिकतर यही प्रदेश रहा। रुद्रपल्ली में इन्होंने मन्दिर प्रतिष्ठा, दीक्षा, पूजादि अनेक धर्म कार्य करवाये।

यद्यपि इनके द्वारा प्रतिष्ठापित मन्दिर आदि अब विलीन हो चुके हैं, तथापि प्रतिमा-लेखों से विदित होता है कि आचार्य जिनवल्लभसूरि प्रतिबोधित दूगड़ आदि अनेक गोत्रों पर इस शाखा का प्रभाव था, और पंजाब में भी जिनशेखर एवं इनके शिष्यों का विचरण हुआ था।

शिष्य-परम्परा :—आचार्य जिनशेखर के शिष्यों की संख्या कितनी थी, यह भी ज्ञात नहीं हो पाया है। किन्तु प्राप्त प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट है कि जिनशेखर प्रवर्तित शाखा विक्रम की उन्नीसवीं शदी पर्यन्त विद्यमान् रही। जिसमें खरतरगच्छ के आदिकाल में निम्न प्रमुख आचार्य हुए—

१. पद्मचन्द्रसूरि २. विजयचन्द्रसूरि ३. अभयदेवसूरि ४. देवभद्रसूरि

रुद्रपल्लीय खरतर-शाखा का प्रवर्तन :—आचारपरक मान्यता

भेद को लेकर खरतरगच्छ का जन्म हुआ और विचारपरक मान्यता भेद को लेकर रुद्रपल्लीय खरतरगच्छ का। रुद्रपल्लीय परम्परा वास्तव में खरतरगच्छ की प्रथम भेद-शाखा है।

आचार्य जिनशेखरसूरि इसी रुद्रपल्लीय शाखा के प्रवर्तक थे। एक प्रभावशाली आचार्य होने के कारण इनकी शाखा लगभग डेढ़ सौ दो सौ वर्षों तक जीवित रही, किन्तु बाद में लुप्त हो गयी।

खरतरगच्छ की मूल वृहत् शाखा एवं रुद्रपल्लीय खरतरगच्छ शाखा में किंचित तथ्यों को लेकर मतभेद भी था। दोनों परम्पराओं में शास्त्रार्थ होने का उल्लेख भी मिलता है। जिनशेखर के ही शिष्य पद्मचन्द्रसूरि का मणिधारी आचार्य जिनचन्द्रसूरि के साथ सं० १२२२ में रुद्रपल्ली नगर में "न्यायकुन्दली" पठन-प्रसंग में राजसभा में शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें पद्मचन्द्रसूरि निरुत्तर हो गये।[१] ऐसी घटनाओं को देखते हुए यह लगता है कि रुद्रपल्लीय शाखा यद्यपि खरतरगच्छ-वृक्ष की ही एक शाखा थी, किन्तु यह अपनी पूर्व परम्परा से कुछ भिन्न तथ्य भी प्ररूपित करती थी। वे भिन्न तथ्य कौन से हैं, इसकी सूचना अप्राप्त है।

समय-संकेत :—आचार्य जिनशेखर के समय की सूचना देने वाले पूरे प्रमाण नहीं हैं। वे जिनवल्लभसूरि के शिष्य थे। चूंकि जिनवल्लभ का समय बारहवीं शदी है, अतः इनका समय भी बारहवीं-तेरहवीं शदी होना चाहिये।

मणिधारी आचार्य जिनचन्द्रसूरि

जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों में जिनदत्तसूरि, मणिधारी जिनचन्द्रसूरि, जिनकुशलसूरि और जिनचन्द्रसूरि 'दादा' के नाम से

---

१ द्रष्टव्य : खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ २१.

विख्यात हैं। इन चार दादा गुरु देवों में विवेच्य आचार्य का द्वितीय क्रम है। ये बड़े दादा जिनदत्तसूरि के पट्टधर थे।[१]

बताया जाता है कि इनके भालस्थल में एक अद्भुत मणि थी, अतः इनकी प्रसिद्धि "मणिधारी" के रूप में हुई है।[२] यद्यपि मात्र २६ वर्ष की आयु में इनका निधन हो गया था, किन्तु इस अल्प समय में भी इनकी असाधारण प्रतिभा ने समाज पर अमिट प्रभाव डाला। भारत में अनेक स्थलों पर इनकी चरण-पादुकाएँ स्तूप एवं मन्दिर आदि निर्मित-प्रतिष्ठापित हैं। अनेक कवियों ने इन पर स्तुतिपरक रचनाएँ लिखी हैं। खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में इनका विस्तृत जीवन-वृत्त वर्णित है तथा अगरचन्द नाहटा एवं भंवरलाल नाहटा ने 'मणिधारी श्री जिनचन्द्र' नामक शोधमूलक पुस्तक लिखी है। उपाध्याय लब्धि मुनि ने इन पर एक काव्यरचना की थी, जो संस्कृत-काव्य-साहित्य में अपना स्थान रखती है।

जीवन-वृत्ति—जैसलमेर के निकटवर्ती विक्रमपुर में साह रासल

---

१ जैनसमाजविख्याता दादेति नामधारकाः।
श्री जिनदत्तसूरीशाः श्री जिनचन्द्रसूरयः।
जिनकुशलसूरीशाः श्री जिनचन्द्रसूरयः।
श्री खरतरगच्छस्य चतुर्ष्वेतेषु सूरिषु॥
—श्री जिनचन्द्रसूरिचरितम् (२-३)

२ (क) श्री जिनचन्द्रसूरीशाः ललाटमणिधारकाः।
शासनोद्योतका आसन् महाप्रभावशालिनः॥
—वही (१८६)

(ख) जिणदत्तसूरि पट्टे जिणचंदसूरि मणियालो जाओ।
तस्य भालयले नरमणी दीपइ॥
—वृद्धाचार्य प्रबन्धावली (६)

नामक श्रेष्टि की धर्मपत्नी देह्लणदेवी की कुक्षि से सं० ११९७ भाद्रव शुक्ला ८ के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में जिनचन्द्रसूरि का जन्म हुआ।[1]

आचार्य जिनदत्तसूरि ने विक्रमपुर में चातुर्मास किया। इसी अवधि में उन्होंने रासलपुत्र को अपने पट्ट के योग्य ज्ञात किया। 'खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली' के अनुसार तो रासलपुत्र जब गर्भ में था, उसी समय जिनदत्त को यह ज्ञात हो गया था कि यह मेरा पट्टधर है।

जिनचन्द्रसूरि की दीक्षा स० १२०३, फाल्गुन शुक्ला ९ के दिन पार्श्वनाथ विधिचैत्य में जिनदत्तसूरि के कर कमलों से हुई।

सं० १२०५ बैशाख शुक्ल ६ को विक्रमपुर के महावीर जिनालय में जिनदत्तसूरि ने स्वहस्त से इन्हें आचार्य पद प्रदान कर जिन-चन्द्रसूरि नामकरण किया। आचार्य पद महोत्सव इनके पिता साह रासल ने बड़े समारोह पूर्वक किया। उपाध्याय क्षमाकल्याण कृत खरतरगच्छ पट्टावली में सं० १२०५ के स्थल पर सं० १२११ लिखा है, लेकिन उपाध्याय अभयतिलक कृत द्वयाश्रकाव्य वृत्ति की प्रशस्ति में, उपाध्याय चन्द्रतिलक रचित अभयकुमार चरित्र में, युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में, एवं अन्य पट्टावलियों में भी आचार्य पद का समय सं० १२०५ ही उल्लेखित है। यद्यपि व्यवहार सूत्र आदि आगमों में दीक्षाग्रहण के मात्र २ वर्ष पश्चात् ९ वर्ष की अल्पायु में आचार्य जैसा महत्वपूर्ण पद प्रदान करने की आज्ञा नहीं है। लगता है इनके भावी कर्तृत्व को प्रमुखता देकर ही इन्हें आचार्य पद दिया होगा। पूर्णभद्र कृत शालिभद्रचरित्रानुसार आचार्य जिनदत्तसूरि ने इन्हें आगम, मंत्र, तन्त्र, ज्योतिष आदि का अध्ययन करा कर सभी विषयों में विद्वान बना दिया।

---

[1] संवत् सिव सत्ताणवयं, सद्दभि सुदि णम्मु।
रासल तात सुमातु जसु, देल्हण देवि सुधम्म।
—पुण्यसागरकृत श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टक (२)

आचार्य जिनदत्तसूरि ने जिनचन्द्रसूरि को योगिनीपुर, ढिल्ली नगर (दिल्ली) जाने का सर्वथा निषेध किया था।

संवत् १२११ आषाढ़ शुक्ला ११ को अजमेर नगर में जिनदत्तसूरि का स्वर्गवास होने पर इन्होंने गच्छ नायक पद प्राप्त किया।

संवत् १२१४ में जिनचन्द्रसूरि त्रिभुवनगिरि पधारे जहाँ जिनदत्तसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठित शान्तिनाथ जिनालय के शिखर पर स्वर्ण दण्ड, कलश और ध्वजारोहण और गणिनी साध्वी हेमदेवी को इन्होंने प्रवर्त्तनी पद से विभूषित किया। वहाँ से मथुरा की यात्रा कर सम्वत् १२१७ के फाल्गुन शुक्ला १० के दिन पूर्णदेव जिनरथ, वीरभद्र, वीरनथ, जगहित, जयशील, जिनभद्र और नरपति को भीमपल्ली के वीर जिनालय में दीक्षा प्रदान की और श्रेष्ठि क्षेमन्धर को प्रतिबोध दिया। वहाँ से विहार कर मरुकोट (मरोट) पधारे जहाँ चन्द्रप्रभ-स्वामी के विधिचैत्य पर साधु गोल्लक कारित स्वर्णदण्ड, कलश व ध्वजारोपण किया गया। इस महोत्सव में श्रेष्ठि क्षेमन्धर ने विशेष अर्थ व्यय किया।

मरुकोट से विहार कर जिनचन्द्रसूरि सं० १२१५ में उच्चनगरी पधारे वहाँ ऋषभदत्त, विनयशील, गुणवर्द्धन, मानचन्द्र जगश्री, सरस्वती और गुणश्री को दीक्षा दी।

संवत् १२२१ में जिनचन्द्रसूरि सागरपाड़ा पधारे। वहाँ श्री गजधर कारित पार्श्वनाथ विधि चैत्य में देवकुलिका की प्रतिष्ठा की। इसी वर्ष अजमेर में जिनदत्तसूरि स्तूप की प्रतिष्ठा की। वहाँ से विहार करते वे बब्बेरक गये, जहाँ उन्होंने गुणभद्र अभयचन्द्र, यशचन्द्र, यशोभद्र, देवभद्र और देवभद्र की धर्मपत्नी को प्रव्रज्या प्रदान की। आशिका (हाँसी) नगरी में उन्होंने नागदत्त को वाचनाचार्य पद दिया और महावन स्थान के अजितनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठा की। इन्द्रपुर में उन्होंने शान्ति-

नाथ विधिचैत्य के स्वर्ण दण्ड, कलश और ध्वज की प्रतिष्ठा की। तगला ग्राम में महलाल श्रावक जो गुणभद्र गणि के पिता थे, द्वारा निर्मापित अजितनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठा की।

सं० १२२२ में बादली नगर के पार्श्वनाथ मन्दिर में इसी महलाल श्रावक कारित स्वर्ण दण्ड, कलश की प्रतिष्ठा की। अम्बिका-मन्दिर के शिखर पर स्वर्ण-कलश की प्रतिष्ठा कर वे रुद्रपल्ली होते हुए नरपालपुर पधारे। वहाँ एक ज्योतिषी से ज्योतिष सम्बन्धी चर्चा करते हुए उन्होंने उसे कहा कि चर, स्थिर, द्विस्वभाव इन तीन स्वभाव वाले लग्नों में किसी भी लग्न का प्रभाव दिखाओ। ज्योतिषी के निरुत्तर होने पर उन्होंने वृष लग्न के १६ से ३० अंशों तक के समय मार्गशीर्ष मुहुर्त्त में पार्श्वनाथ मन्दिर के समक्ष एक शिला १७६ वर्ष तक स्थिर रहने की प्रतिज्ञा से अमावस्या के दिन स्थापित कर उस ज्योतिषी को पराजित कर दिया। खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली के अनुसार वह शिला अभी भी (सं० १३०५) वहाँ विद्यमान है।

सं० १२२२ में रुद्रपल्ली नगर में आचार्य पद्मचन्द्र के साथ जिनचन्द्रसूरि का 'न्यायकन्दली' पठन के प्रसंग को लेकर 'अन्धकार रूपी है या अरूपी' विषय पर चर्चा हुई। इस चर्चा ने शास्त्रार्थ का रूप ग्रहण कर लिया। अन्त में रुद्रपल्ली की राज्यसभा में दोनों में शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें जिनचन्द्रसूरि विजित हुए एवं उन्हें विजयपत्र सम्प्राप्त हुआ।

'खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली' में जिनचन्द्रसूरि के सम्बन्ध में एक आश्चर्यकर एक घटना का उल्लेख किया गया है। जब जिनचन्द्रसूरि संघ के साथ वोर सिंदानक (वोरसिदान ग्रामोल्लेख भी प्राप्त होता है) ग्राम के निकट अपना विश्राम-पड़ाव डाला। उसी समय वहाँ म्लेच्छों के आगमन की सूचना प्राप्त हुई। म्लेच्छ लोग संघ को न लूटे, इस उद्देश्य से जिनचन्द्र ने संघ के आगे अपने दण्ड से एक गोलाकार रेखांकन कर उसके भीतर संघ समाविष्ट कर दिया। आश्चर्य यह था

कि संघ ने मलेच्छों को जाते हुए देखा, किन्तु मलेच्छ संघ को न देख सका। इस प्रकार मलेच्छोपद्रव से जिनचंद्र ने संघ-रक्षा की।

सं० १२२३ में दिल्ली (ढिल्ली) के महाराजा मदनपाल के अत्याग्रह से इच्छा न होते हुए भी जिनचन्द्रसूरि ने ढिल्ली में प्रवेश किया। राजा को प्रतिबोध दिया। धर्म की प्रभावना की। जिनचन्द्रसूरि की कृपा से श्रेष्ठि कलचन्द्र करोड़पति बना और दो मिथ्यादृष्टि देवों में से एक को सम्यक् दृष्टि मिली।

इसी चातुर्मासमें द्वितीय भाद्रव कृष्णाचतुर्दशीके दिन जिनचन्द्रसूरि स्वर्ग की ओर प्रयाणकर गये। "युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार इनकी मृत्यु समाधिपूर्ण हुई थी इन्होंने मृत्यु से पूर्व क्षमा-प्रार्थना एवं अनशन-आराधना की थी, किन्तु अन्य पट्टावलियों के उल्लेखानुसार योगिनीछल से आपकी मृत्यु हुई थी। इनकी स्वर्गारोहण-तिथि वि० सं० १२२३, द्वितीय भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी है।[१]

मृत्यु पूर्व आप श्री ने एक भविष्यवाणी की कि 'नगर से जितनी दूर मेरा देह-संस्कार किया जायगा, नगरकी आबादी उतनी ही दूर तक बढ़ जायेगी' अतः आपका अन्त्येष्टि संस्कार दिल्ली से दूर किया गया, जो महरौली में कुतुबमीनार के समीप है वहाँ एक स्तूप भी बनाया गया। यह स्थान आजकल 'बड़ी दादाबाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है कि जिनचन्द्रसूरि की शवयात्रा जब महरोली पहुँची तो श्रावक वर्ग ने विश्राम करने के लिए अर्थी को भूमि पर रख दिया। कुछ समय बाद जब अर्थी को पुनः उठाया गया, तो वह उठ न सकी। कहते हैं कि हाथी के द्वारा उठाये जाने पर भी वह न हिली। अतः वहीं पर उनका देह-संस्कार किया गया। इस घटना की प्रामाणिकता संदिग्ध है, क्योंकि जिनचन्द्र के समवर्ती किसी भी

---

१ मूल सन्दर्भ द्रष्टव्य : युगप्रधानचार्य गुर्वावली, परिच्छेद ३६ से ४३ तक

लेखकों ने इस घटना की सूचना नहीं दी है। यदि ऐसी विशिष्ट घटना घटित होती तो जिनपालोपाध्याय तो निश्चित उल्लेख करते।

जैसा कि मैं प्रारम्भ में ही सूचित कर चुका हूँ कि जिनचन्द्रसूरि के ललाट में मणि थी और उसी के कारण उनकी प्रसिद्धि "मणिधारी" के नाम से हुई है। इस प्रभावशाली मणि के सम्बन्ध में पट्टावली-कारों का कथन है कि जिनचन्द्रसूरि ने अपने अन्त समय में श्रावक वर्ग से कहा था कि अग्नि संस्कार के समय मेरी देह के सन्निकट दुग्ध-पात्र रखना जिससे वह मणि निकल कर उसमें आ जायगी परन्तु श्रावक वर्ग गुरु-विरह से व्याकुल होने के कारण यह विस्मृतकर बैठे और भवितव्यता से वह मणि एक योगी ने हस्तगत कर ली। जिनचन्द्रसूरि के साथ मणि की जो अवधारणा की गई है वैसी ही अवधारणा ललितविजय विरचित 'यशोभद्रसूरि चरित्र' में यशोभद्र-सूरि के विषय में पायी जाती है। यथा—

'आचार्य यशोभद्रसूरि अपने ज्ञान का उपयोग देकर बोले—मेरी ६ माह की आयु शेष है। मेरे मस्तक में एक प्रभावशाली मणि है, उसे लेने के लिए एक योगी अनेक उपाय करेगा, परन्तु तुम पहले ही मेरे मृत शरीर में से उस मणि को निकाल लेना और पीछे अग्नि-संस्कार करना—इस तरह की सूचना भक्त श्रावक को देकर विक्रम सं० १०३६ में आचार्य यशोभद्रसूरि समाधि पूर्वक स्वर्गारूढ़ हुए। आचार्य का स्वर्गवास सुनकर एक योगी तत्काल अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए वहाँ आ पहुँचा। उसने आचार्य के मस्तक की मणि ग्रहण करने के लिए अनेक प्रयत्न किए। परन्तु जब उसे यह बात ज्ञात हुई कि मणि तो पहले ही किसी ने निकाल ली है और वह मुझे कोई उपाय करने पर नहीं मिलेगी, तब निराश दुःख को न सहन करने के कारण उस योगी की हृदय गति रुक गयी।'

मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरिजी बड़े प्रतिभाशाली थे, अतः खरतर-

गच्छ में प्रति चौथे पट्टधर का नाम यही रखे जाने की परम्परा इन्हीं से प्रचलित होने का पट्टावलियों में उल्लेख है।

सं० १२९४ में अंचलगच्छ के आचार्य श्री महेन्द्रसूरि विरचित शतपदी ग्रंथ में जिनचन्द्रसूरि के लिये तीन बातें लिखी हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. एक पट्ट मां नवग्रह, ५. लोकपाल, यक्ष, यक्षिणी, क्षेत्रदेवता, चैत्यदेवता, शासनदेवता, साधर्मिकदेवता, भद्रकदेवता, आगन्तुक देवता तथा ज्ञान, दर्शन, अने चारित्रना देवता एवं २५ देवता नी कुल कुटी ऊभी करी।

२. जिनदत्तसूरि चैत्यमां नानी के वृद्ध वेश्या ने नचाववुं ठेहरावी, युबान वेश्या तथा गानारी स्त्रियों नु निषेध कर्यो पण जिनचन्द्रसूरिए बधी वेश्यानु निषेध क्यों।

३. जिनदत्तसूरि श्राविका ने मूल प्रतिमा ने अड़कवुं निषेध्युं छे पण जिनचन्द्रसूरिए तो एम ठहेराव्युं के श्राविकाओ सर्वथा शुचि नहीं ज होय माटे तेमणे कोई पण प्रतिमा ने नहीं अड़कवुं।[१]

प्रतिबोध एवं गोत्र-स्थापन

मणिधारी आचार्य जिनचन्द्रसूरि एक अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न आचार्य माने गये हैं। छोटी उम्र की बड़ी सफलता—यही इनके व्यक्तित्व की विशेषता है। राजपूत क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर उन्हें अहिंसा तथा शान्ति के मार्ग का अनुरागी बनाने में इन्हें अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई थी। खरतरगच्छ के प्रत्येक आचार्य ने ऐसे कार्यों को सर्वतोभावेन सम्पूर्ण करने का प्रयास किया। मणिधारी ने जन-प्रतिबोध के अन्तराल में जिन-जिन गोत्रों का परिनिर्माण किया, उसकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है :—

---

१ शतपद, जिनचन्द्रसूरि नी आचरणाओ, पृष्ठ १५२

वि० सं० १२१४ में सिंध देश के राजा गोशलसिंह भाटी ने जिनचन्द्रसूरि के प्रतिबोध से जैनत्व स्वीकार किया। जिनचन्द्र ने उनका महाजनवंश और आधरिया गोत्र स्थापित किया। गोशलसिंह के साथ १५०० घरों ने जैनधर्म अंगीकार किया था।

वि० संवत् १२१७ में मेवाड़ के आघाट गाँव में खीची राजा सूरदेव के पुत्र दूगड़-सुगड़ राज्य करते थे। इनके निवेदन पर मणिधारी जिनचन्द्रसूरि ने आघाटग्राम की प्रेत-बाधा मिटाई। दूगड़-सुगड़ मणिधारी से आत्यन्तिक प्रभावित हुए और उन्होंने जैनधर्म अंगीकार किया। उस समय सीसोदिया वैरीशाल ने भी श्रावक-व्रतों को स्वीकार किया। इनके वंशज सीसोदिया कहलाये। दूगड़ सुगड़ से दुगड़ सुगड़ गोत्र स्थापित हुआ। राजा के साथ जिन अन्य लोगों ने जैनीकरण स्वीकार किया, उनमें खेता से खेताणी गोत्र बना तथा कोठार में काम करनेवाले कोठारी प्रख्यात हुए।

मेवाड़ के मोहीपुर के नरेश नारायणसिंह पमार के राज्य पर जब चौहानों ने आक्रमण किया तब नारायणसिंह के पुत्र गंगा ने स्वयं को परास्त होते देख आचार्य जिनचन्द्रसूरि की शरण ली। आचार्य गंगा को शरणागत समझ दैविक सहायता प्रदान की जिससे मोहीपुर नरेश की विजय हुई। राजा नारायणसिंह तथा उसके सोलह पुत्रों ने आचार्य से सम्यक्त्व मूल बारह व्रत स्वीकार किये। आचार्य के द्वारा जो शासन-प्रभावक कार्य निष्पन्न हुए उनमें नारायणसिंह का सक्रिय सहयोग रहा। राजा के सोलह पुत्र तथा उनके वंशजों के लिए आचार्य ने निम्न गोत्र स्थापित किये—गांग, पालावत, दुधेरिया, गोढ़, गिड़िया, बांभी, गोढ़वाड़, थराबना, खुरधा, पटवा, गोप, टोडरवाल, भाटिया, आलावत, मोहीवाल और वीरावत।

छाजेड़ गोत्र के सम्बन्ध में "खरतरगच्छ के आचार्यों द्वारा प्रतिबोधित जैन जातियाँ व गौत्र"से यह सूचना प्राप्त होती है किस वियाणा-

गढ़ के राठोड़ आस्थान के पुत्र धांधल, तत्पुत्र रामदेव के पुत्र काजल ने आचार्य जिनचन्द्रसूरि से सं० १२१५ में स्वर्णसिद्धि की वास्तविकता प्रत्यक्षतः बतलाने का साग्रह निवेदन किया। जिनचन्द्र ने उसे लक्ष्मी-मन्त्र से अभिमन्त्रित वासक्षेप दिया और कहा—इसे तुम जिस पर डालोगे वह सोने का हो जाएगा। काजल ने वासक्षेप को घर के छज्जों पर डाला। आश्चर्य! छज्जे स्वर्णमय हो गए। काजल छज्जों के स्वर्णमय हो जाने से प्रभावित होने के कारण आचार्य के प्रति एकनिष्ठ हुआ। और इस प्रकार आचार्य ने छाजेहड़ गोत्र की स्थापना की।

सं० १२१५ में जिनचन्द्र ने सालमसिंह दइया को प्रतिबोध दिया। सियालकोट में वोहरगत करने से सालेचा वोहरा गोत्र प्रसिद्ध हुआ।

श्रीमाल गोत्र का पुनरुद्धार एवं पुनर्स्थापन भी जिनचन्द्रसूरि के करकमलों से ही हुआ था।

साहित्य :—मणिधारी जिनचन्द्रसूरि एक समर्थ विद्वान थे। उन्होंने शास्त्रीय ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन किया था, किन्तु उन्होंने कोई विस्तृत साहित्य-सर्जन किया हो, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अब तक 'व्यवस्था-शिक्षा-कुलक' नामक एक मात्र कृति उपलब्ध हो पाई है।

समय संकेत :—द्वितीय दादा जिनचन्द्रसूरि का जन्म वि० सं० ११९७, दीक्षा सं० १२०३, आचार्यपद सं० १२११ और स्वर्गवास सं० १२२३ में हुआ था। इस प्रकार वे बारहवीं-तेरहवीं शदी के आचार्य प्रमाणित होते हैं।

महावादजयी आचार्य जिनपतिसूरि

आचार्य जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर हुए आचार्य जिनपतिसूरि। इन्हें मात्र बारह अथवा चौदह वर्ष की बाल्य आयु में आचार्य जैसी सर्वोच्च उपाधि और विशाल खरतरगच्छ का गणनेतृत्व/संचालन का भार प्राप्त

हो जाना वैशिष्ट्यपूर्ण है।[1] प्राप्त प्रमाणों से विदित होता है कि जिनपतिसूरि एक प्रतिभावान्, व्यक्तित्व सम्पन्न और उद्भट विद्वान आचार्य थे। इनकी प्रसिद्धि 'षट्त्रिंशत वाद विजेता' के रूप में आख्यायित है।[2] उन्होंने शाकंभरी नरेश पृथ्वीराज के दरबार में जयपत्र प्राप्त किया था।

जीवन-वृत्त :—'श्री जिनपतिसूरि पंचाशिका' कृति के अनुसार जिनपतिसूरि का जन्म सं० १२१० चैत्र कृष्णा ८, मूल नक्षत्र में विक्रमपुर निवासी यशोवर्धनमालू की पत्नी सूहवदेवी (एक पट्टावली में जसमई नामोल्लेख भी हुआ है) की रत्नकुक्षि से हुआ था। उनका नाम नरपति था। सं० १२१६, फाल्गुण कृष्ण १० को जिनचन्द्रसूरि के कर-कमलों से दीक्षा ग्रहण की। जबकि 'खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली' में इनका दीक्षा-काल सं० १२१७, फाल्गुन शुक्ला १० निर्दिष्ट है। इस गुर्वावली के अनुसार इनका दीक्षानाम नरपति था।

इसी पट्टावली में सूचित है कि सं० १२२३, कार्तिक शुक्ल १३ को उत्सवपूर्वक आचार्य जयदेवसूरि ने नरपति को आचार्य पदवी प्रदानकर जिनचन्द्रसूरि का पट्टधर घोषित किया और इनका जिनपतिसूरि नव नामकरण हुआ।[3] आचार्य-पदोत्सव का व्ययभार मानदेव ने वहन किया, जो जिनपतिसूरि के चाचा थे।

जिनपतिसूरि ने सं० १२२३ में पद्मचन्द्र और पूर्णचन्द्र नामक दो

---

१ सो वि बारवरिसवइठिओ पट्टे ठाविओ।

—वृद्धाचार्य प्रबन्धावली, (६)

२ पामीउ जेत्र छतीस विवादिहि, जयसिंह पहविय परषदइ।

—शाह रायण कृत श्री जिनपतिसूरि धवल गीतम् (१२)

३ बार त्रेवीसए नयरि बब्बेरए, कातिय सुदी दिन तेरसीए।
श्रीजिणचन्द्रसूरि पाटे संठाविउ, श्रीजयदेवसूरि आयरीए।
गुरुय नामेण जिनपतिसूरि उदयउ, चन्द्र कुलम्बर चन्दलउए

—शाह रयण कृत श्री जिनपतिसूरि धवल गीतम् (६-१०)

गृहस्थों को प्रतिबोध देकर श्रमणधर्म में दीक्षित किया। तत्पश्चात् सं० १२२४ में विक्रमपुर में गुणधर, गुणशील, पूर्णरथ, पूर्णसागर, वीरचन्द्र और वीरदेव को क्रम से तीन नन्दियों की स्थापना करके दीक्षा दी। और मुनि जिनप्रिय को उपाध्याय पद प्रदान किया।

सं० १२२५ में जिनपतिसूरि उच्चानगरी में आये जहाँ उन्होंने धर्मसागर, धर्मचन्द्र, धर्मपाल, धर्मशील, धनशील, धर्ममित्र और इनके साथ धर्मशील की माता को भी दीक्षित किया तथा मुनि जिनहित को वाचानाचार्य का पद दिया। वहाँ से मरुकोट आये, मरुकोट में विनयसागर और शीलसागर की बहिन अजितश्री को संयम व्रत दिया।

सं० १२२८ में जिनपतिसूरि सागरपाड़ा पहुँचे। वहाँ पर सेनापति अम्बड़ तथा दुसाझ गोत्रीय श्रेष्ठि साढल द्वारा बनाये हुए अजितनाथ स्वामी तथा शान्तिनाथ स्वामी के मन्दिरों की प्रतिष्ठा करवाई। इसी वर्ष बब्बेरक ग्राम आशिका नगरी में भी विहार करने के उल्लेख मिलते हैं।

आचार्य जिनपतिसूरि आशिका के नृपति भीमसिंह एवं श्रावकसंघ के अनुरोध पर आशिका पधारे। नगर प्रवेशोत्सव में स्वयं राजा भी सम्मिलित हुआ। आशिका में दिगम्बराचार्य महाप्रामाणिक के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ और इन्होंने शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की। जिनपतिसूरि का यह प्रथम वाद-विजय था। फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन जिन मन्दिर में पार्श्वनाथ प्रतिमा की स्थापना करके वे सागरपाट पधारे और वहाँ देवकुलिका की प्रतिष्ठा की।

वहाँ से सं० १२२९ में वे धनपाली पहुँचे, जहाँ उन्होंने संभवनाथ स्वामी की प्रतिमा की स्थापना और शिखर की प्रतिष्ठा की। सागरपाट में इन्होंने पंडितमणिभद्र के पट्ट पर विनयभद्र को वाचनाचार्य का पद दिया। सं० १२३० में विक्रमपुर से विहार करके स्थिरदेव, यशोधर, श्रीचंद्र और अभयमति, जयमति, आशमति, श्रीदेवी आदि

को दीक्षा देकर संयमी बनाया। संवत् १२३४ में पुनः विक्रमपुर आकर फाल्गुन सुदि को भांडागारिक गुणचंद्रगणिस्मारक स्तूप की प्रतिष्ठा की।

इसी वर्ष में जिन मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाने के लिए जिनपतिसूरि फिर आशिका नगरी में आये। उनका नगर-प्रवेश बड़े समारोह के साथ किया गया। नगर-प्रवेश का वर्णन खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में सविस्तार हुआ है। प्राप्त उल्लेखानुसार जिनपतिसूरि के साथ उस समय ८० मुनि थे। ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया के दिन पार्श्वनाथ स्वामी के मन्दिर के शिखर पर स्वर्ण ध्वज कलश आरोपित किया गया। उसी अवसर पर जिनपतिसूरि ने धर्मसागर और धर्मरुचि को साधु व्रती बनाया। कन्यानयन के विधि चैत्यालय में आपने आषाढ़ माह में विक्रमपुर वासी साह मानदेवकारित श्रीमहावीर भगवान की प्रतिमा स्थापित की। इसी वर्ष व्याघ्रपुर में पार्श्वदेव को दीक्षा दी। सं० १२३८ में आपने फलवर्द्धिका (फलौदी) के विधिचैत्य में पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा स्थापित की। और गणि जिनमत को उपाध्याय पद और गुणश्री नामक साध्वी को महतरा का पद दिया। वहीं पर सर्वदेव और जयदेवी को दीक्षा दी गई।

सं० १२३५ में जिनपतिसूरि का चातुर्मास अजमेर में हुआ। वहाँ पर उन्होंने जिनदत्तसूरि के प्राचीन स्तूप का जीर्णोद्धार कराकर विशाल रूप दिलवाया। इसके अलावा देवप्रभ और उसकी माता चरणमति को दीक्षा दी। अजमेर में ही सं० १२३६ में श्रेष्ठि पासट निर्मापित भगवान् महावीर-मूर्ति की स्थापना की और अम्बिका शिखर की प्रतिष्ठा करवाई। वहाँ से जाकर सागरपाड़े में भी अम्बिका शिखर की स्थापना की।

सं० १२३७ में वे बब्बेरक ग्राम में जिनरथ को वाचनाचार्य का पद देकर सं० १२३७ में आशिका में आये और दो मन्दिरों एवं दो बड़ी जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की।

सं० १२३९ में जिनपतिसूरि अजमेर पधारे। वहाँ सम्राट पृथ्वीराज चौहान की अध्यक्षता में फलवर्द्धिका निवासी उपकेशगच्छीय आचार्य पद्मप्रभ के साथ आपका महत्वपूर्ण शास्त्रार्थ हुआ था। जिनपतिसूरि ने जिन शास्त्रार्थों में भाग लिया, उनमें यह शास्त्रार्थ सर्वोपरि था। यह शास्त्रार्थ अजमेर राज्य-सभा में हुआ था। राज्य-सभा में महामन्त्री मण्डलेश्वर कैमास, पं० वागीश्वर, जनार्दन गौड़, विद्यापति प्रभृति प्रमुख विद्वान सम्मिलित थे। प्रतिवादी आचार्य पद्मप्रभ अभिमानी, अविवेकवान, अनर्गल प्रलापी था। विस्तृत वाद-विवाद के बाद पद्मप्रभ परास्त हो गया। जिनपतिसूरि की असाधारण प्रतिभा एवं पाण्डित्य से सारी सभा प्रमुदित हुई और राजा चौहान ने पृथ्वीराज चौहान को विजय-पत्र हाथी के हौदे पर रखकर स्वयं उपाश्रयमें जाकर जिनपतिसूरि को प्रदान किया। इस अवसर पर श्रावकसंघ ने विशाल पैमाने में महोत्सव मनाया।

उसके बाद आचार्य जिनपतिसूरि अजमेर से विहार कर वि० सं० १२४० में विक्रमपुर आये। वहाँ पर जिनेश्वरसूरि एवं उनके १४ शिष्य मुनियों ने छः मास तक गणियोग तप किया। वि० सं० १२४२ में फलौदी आकर जिणनाग, अजित, पद्मदेव, यमचन्द्र और धर्मश्री, धर्मदेवी को दीक्षा दी। वि० सं० १२४३ में खेड़ा नगर में जिनपतिसूरि ने चातुर्मास किया। वहाँ से ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए पुनः अजमेर की ओर पधार गये।

सं० १२४४ में आचार्य जिनपतिसूरि की सान्निध्यता में उज्जयन्त, शत्रुंजय आदि तीर्थों की यात्रा के लिए एक संघ निकला। जिसके संघपति श्रेष्ठि अभयकुमार वश्याय थे। विक्रमपुर, उच्चा, मरुकोट, जैसलमेर, फलौदी, दिल्ली, वागड़, मांडव्यपुर आदि नगरों के श्रावकवर्ग ने इस यात्रा में भाग लिया। शत्रुंजय जाते समय मार्ग में चन्द्रावती नगरी पधारे, जहाँ पूर्णिमा गच्छीय आचार्य

अकलंकसूरि पाँच आचार्य एवं पन्द्रह साधुओं के साथ संघ-दर्शनार्थ आये। जिनपति से अकलंकदेव की "जिनपति" नाम एवं "संघ के साथ साधु-साध्वियों का गमनागमन शास्त्रोक्त है या नहीं" इन प्रश्नों पर शास्त्र-चर्चा हुई, जिसका विस्तृत वर्णन "खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली में द्रष्टव्य है। शास्त्र-चर्चा में अकलंकदेव निरुत्तर हो गये। जिनपति ने प्रथम प्रश्नों का उत्तर देते हुए बताया कि जिनपति का तात्पर्य है जिन है पति जिसका, वह है "जिनपति" यह अर्थ बहुव्रीहिसमास के आधार पर किया गया। द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हुए जिनपति ने यह सिद्ध किया कि यदि संघ किसी तीर्थ की यात्रा करने के लिए जाता हो और वह साधु-साध्वियों को तीर्थाटन करने के लिये निवेदन करे तो साधु-साध्वी का संघ के साथ जाना शास्त्र सम्मत है। अकलंकदेव जिनपति की अप्रतिम विद्वता देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए।

संघ जब चन्द्रावती से कासहृद पहुँच तो वहाँ भी जिनपतिसूरि के साथ आचार्य तिलकप्रभसूरि की शास्त्रीय चर्चा हुई। यह चर्चा मुख्यतः "संघपति" तथा "वाक्यशुद्धि" से संबद्ध थी, जिसमें जिनपतिसूरि ने आगमिक एवं आगमेतर ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा तिलकप्रभसूरि को पराजित किया।

इसी प्रकार संघ जब आशापल्ली पहुँचा, तब वहाँ भी जिनपतिसूरि को शास्त्रार्थ करना पड़ा। यह शास्त्रार्थ जिनपतिसूरि और आचार्य वादिदेव परंपरीय आचार्य प्रद्युम्न के मध्य हुआ था। शास्त्रार्थ का विषय "आयतन[१] अनायतन" से सम्बन्धित था। शास्त्रार्थ में जिनपति ने विजय प्राप्त की और यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया कि जिस जिन-मन्दिर में साधु निवास करते हैं, उसकी सम्भाल करते हैं, वह अनायतन है। इस शास्त्रार्थ का निम्नकृतियों में सविस्तार वर्णन किया गया है—

---

१ आयतन = मन्दिर, चैत्यतुल्य—अमरकोष (२. २. ७)

१. वादस्थल, लेखक आचार्य प्रद्युम्न

२. प्रबोधोदयवादस्थल, लेखक आचार्य जिनपतिसूरि

इस शास्त्रार्थ-विजय के उपलक्ष में भाण्डाशालिक (भणशाली) संभव, वैद्य सहदेव, ठाकुर हरिपाल, श्रेष्ठि क्षेमन्धर, वाहित्रिक उद्धरण, श्रेष्ठि सोमदेव इत्यादि श्रावकों की ओर से एक विजयोत्सव मनाया गया।

संघ वहाँ से चलकर अणहिल पाटन पहुँचा। वहाँ पर जिनपतिसूरि ने अपने गच्छ के चालीस आचार्यों को अपने मंडल में मिलाकर वस्त्र आदि प्रदानकर उनका सम्मान किया।

इसके बाद जिनपतिसूरि संघ के साथ लवणखेटक नामक नगर में गये। वहाँ पर गणि पूर्णदेव, गणि मानचन्द्र, गणि गुणभद्र आदि को वाचनाचार्य की पदवी दी। इसके बाद पुष्करिणी नाम की नगरी में जाकर सं० १२४५ के फाल्गुन मास में धर्मदेव, कुलचन्द्र, सहदेव, सोमप्रभ, सूरप्रभ, कीर्तिचन्द्र, श्रीप्रभ, सिद्धसेन, रामदेव और चन्द्रप्रभ, तथा संयमश्री, शान्तिमति, रत्नमति को दीक्षा दी। सं० १२४६ में श्री पत्तन में भगवान महावीर की प्रतिमा की स्थापना की। सं० १२४७ और १२४८ में लवणखेड़ा में रहने की सूचना मिलती है। इसी वर्ष मुनि जिनहित को उपाध्याय पद दिया। सं० १२४९ में पुनः पुष्करिणी आकर मलयचन्द्र को दीक्षा दी। सं० १२५० में विक्रमपुर में आकर साधु पद्मप्रभ को आचार्य पद दिया और सर्वदेवसूरि नाम से उनका नाम परिवर्तन किया। सं० १२५१ में आपकी निश्रा में माण्डव्यपुर में श्रेष्ठि लक्ष्मीधर का अभिनन्दन हुआ और श्रेष्ठि को माल्यार्पण किया गया।

वहाँ से अजमेर के लिए विहार किया। अजमेर में मुसलमानों के उपद्रव के कारण दो मास बड़े कष्ट से बिताये। तदनन्तर पाटण आये और पाटण से भीमपल्ली आकर चातुर्मास किया। कुहियप

ग्राम में गणि जिनपाल को वाचनाचार्य पद दिया। लवणखेड़ा में राजा केल्हण की ओर से विशेष आग्रह होने के कारण "दक्षिणावर्त्त आरात्रिकावतारण" उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया।

सं० १२५२ में आपने पाटण आकर विनयानन्द को दीक्षित किया। सं० १२५३ में प्रसिद्ध श्रावक भण्डारी नेमिचन्द्र को प्रतिबोध किया। इसके बाद मुसलमानों द्वारा पाटण नगर का विध्वंश होने पर जिनपतिसूरि ने घाटी ग्राम में चातुर्मास किया। सं० १२५४ में आपश्री ने धारानगरी में जाकर प्रभु शान्तिनाथ मन्दिर में विधि मार्ग को प्रचलित किया। अपने तर्क सम्बन्धी परिष्कारों से महावीर नामक दिगम्बर को प्रभावित किया और वहीं पर रत्नश्री को दीक्षित किया। आगे चलकर यही साध्वी प्रवर्तिनी पदारूढ़ हुई।

तत्पश्चात् जिनपतिसूरि ने नागद्रह नामक ग्राम में वर्षावास किया। सं० १२५६ की चैत्र कृष्ण पंचमी को लवणखेट में नेमिचन्द्र, देवचन्द्र, धर्मकीर्ति और देवेन्द्र नामधेयक पुरुषों को दीक्षा देकर व्रती बनाया। सं० १२५८ की चैत्र कृष्णा ५ को शान्तिनाथ देव के विशाल विधि मन्दिर की प्रतिष्ठा की और विधिपूर्वक मूर्त्ति स्थापना तथा शिखर-प्रतिष्ठा भी की गई। वहाँ पर चैत्र कृष्णा २ के दिन वीरप्रभ तथा देवकीर्त्ति नामक दो श्रावकों को साधु बनाया। सं० १२६० आषाढ़ कृष्णा ६ के दिवस वीरप्रभ और देवकीर्त्ति को बड़ी दीक्षा दी गई और उनके साथ ही सुमति एवं पूर्णभद्र को चारित्रमार्गारूढ़ किया गया तथा आनन्दश्री नाम की आर्या को "महत्तरा" का पद दिया।

तदनन्तर जैसलमेर के जिन मन्दिर में फाल्गुण शुक्ला द्वितीया को पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा की स्थापना की। स्थापना-उत्सव श्रेष्ठि जगद्धर ने बड़े विस्तार के साथ किया। सं० १२६३ फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी को लवणखेड़ा में महामन्त्री कुलधर कारित महावीर

प्रतिमा की स्थापना की। उक्त स्थान में ही नरचन्द्र, रामचन्द्र, पूर्णचन्द्र और विवेकश्री, मंगलपति कल्याणश्री, जिनश्री इन साधु-साध्वियों को दीक्षा प्रदान की और धर्मदेवी को प्रवर्त्तिनी पद से विभूषित किया। इस अवसर पर वागड़ देश से ठाकुरआभुल आदि प्रमुख श्रावक समुदाय भी आया था। लवणखेड़ा में ही सं० १२६५ में मुनि चन्द्रमणि, मानभद्र, सुन्दरमति और आसमति इन चार स्त्री-पुरुषों को मुनिव्रत में दीक्षित किया। सं० १२६६ में विक्रमपुर में भावदेव, जिनभद्र तथा विजयचन्द्र को श्रमण-व्रती बनाया, गुणशील को वाचनाचार्य पद दिया और ज्ञानश्री को दीक्षा देकर साध्वी बनाया। सं० १२६६ में जाबालीपुर में महामंत्री कुलधर द्वारा कारित महावीर प्रतिमा को विधि चैत्यालय में बड़े समारोह से स्थापित की। और गणि जिनपाल को आपने उपाध्याय पद दिया। प्रवर्त्तिनी धर्मदेवी को महत्तरा पद देकर प्रभावती नामान्तर किया। इसके अतिरिक्त महेन्द्र, गुणकीर्त्ति, मानदेव, चन्द्रश्री तथा केवलश्री इन पाँचों को दीक्षा देकर वे विक्रमपुर की ओर विहार कर गये।

प्राप्त उल्लेखानुसार जिनपतिसूरि "वागड़" देश में गये थे। वहाँ दारिद्रेरक नाम के नगर में शताधिक श्रावक-श्राविकाओं को सम्यक्त्व मालारोपण, परिग्रह-परिमाण, दान, उपधान, उद्यापन आदि धार्मिक कार्यों में लगाया। इस उपलक्ष में सात नन्दियाँ की। सं० १२७१ में बृहद्द्वार नगर में आसराज राणक आदि मुख्य समाज-नेताओं के साथ ठाकुर विजयसिंह द्वारा कारित विस्तारपूर्वक किये गये प्रवेशोत्सव के साथ प्रवेश हुआ और वहाँ मिथ्यादृष्टि गोत्र देवियों की पूजा आदि असंख्यक क्रिया को बन्द कराया।

सं० १२७३ में भी जिनपतिसूरि बृहद्द्वार में थे। कारण, इस वर्ष उन्हीं की आज्ञा से उपाध्याय जिनपाल और पं० मनोदानन्द के बीच बृहद्द्वार में शास्त्रार्थ हुआ था।

सं० १२७४ में जिनपतिसूरि ने भावदेव को दीक्षा दी। श्रेष्ठि स्थिरदेव के अत्याग्रहवश "दारिद्रेरक" गाँव में चातुर्मास किया। वहाँ भी पूर्ववत् नन्दी स्थापना की। सं० १२७५ में जाबालिपुर आकर ज्येष्ठ शुक्ला १२ के दिन भुवन श्री जगमति तथा मंगलश्री इन तीन साध्वियों को और विमलचन्द्र, पद्मदेव इन साधुओं को दीक्षा दी।

सं १२७७ में पालनपुर में आपने अनेक प्रकार की धर्मशासन-प्रभावना की। किन्तु वेदनीयकर्म के प्रभाव से उनके मूत्राशय में ग्रन्थि हो गई और मूत्रावरोध हो गया। अतः आषाढ़ शुक्ला १० को जिनपतिसूरि ने गच्छ-संचालन का भार गणि वीरप्रभ को देने का संकेत कर अनशनपूर्वक समाधिमरण को प्राप्त किया। प्रह्लादनपुर में इनके नाम का भव्य स्तूप बना था।[१]

आचार्य जिनपतिसूरि का शिष्य समुदाय विस्तृत था। प्राप्त संकेतानुसार उनके शताधिक शिष्य थे। उन्होंने अनेक दीक्षाएँ, प्रतिष्ठाएँ, ध्वजदण्डस्थापना, पदस्थापना महोत्सव एवं शास्त्रार्थ किये थे। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर हमने उनका विवेचन भी किया है।

चामत्कारिक प्रसंग :—वृद्धाचार्य प्रबन्धावली में जिनपतिसूरि के लिए एक आलौकिक प्रसंग आकलित है। उसके अनुसार आसी-नगर में प्रतिष्ठा-महोत्सव था। एक विद्यासिद्ध योगी महोत्सव में भिक्षा-प्राप्ति हेतु आया, किन्तु किसी ने उसे भिक्षा नहीं दी। इससे वह रुष्ट हो गया। वह मूलनायक बिम्ब को कीलित कर चला गया। प्रतिष्ठा के समय जब सारे संघ ने प्रतिमा को उठाना चाहा,

---

१ श्रीमत्प्रह्लादनपुरवरे प्रोन्नतस्तूपरत्ने,
स्फूर्जन्मूर्तिं जिनपतिगुरुं रत्नसानोजनन्दा।

—श्री जिनपतिसूरि स्तूप कलशः, (३)

तो वह हिल तक न पाई। संघ काफी चिन्तातुर हुआ। तब महत्तरा साध्वी ने आचार्य से जाकर सारी वस्तु-स्थिति बतलाई। आचार्य जिनपतिसूरि तत्काल मन्दिर पहुँचे और अभिमन्त्रित चन्दन-चूर्ण डाला। आश्चर्य! उसके बाद तो मात्र एक व्यक्ति ने ही वह प्रतिमा उठा ली। इससे आसीनगर में आचार्य की एवं खरतरगच्छ की काफी प्रशंसा हुई।[1]

साहित्य :—आचार्य जिनपतिसूरि का वाद-कौशल अप्रतिम था। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में भी अपने वैदुष्य एवं अनुभव का उपयोग किया। अब तक उनकी निम्न रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—

१. संघपट्टकवृहद्वृत्ति
२. पंचलिंगीप्रकरणटीका
३. प्रबोधोदयवादस्थल
४. खरतरगच्छ समाचारी
५. तीर्थमाला
६. पंचकल्याणकस्तोत्र
७. चतुर्विंशतिजिनस्तुति
८. विरोधालंकार ऋषभ-स्तुति
९. अजितशान्तिस्तोत्र
१०. अजितशान्तिस्तुति
११. नेमिस्तोत्र
१२. चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तोत्र
१३. पार्श्वनाथ स्तोत्र
१४. पार्श्वस्तव
१५. स्तम्भतीर्थ अजितस्तव
१६. महावीरस्तव

[1] खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ६३

१७. महावीर स्तोत्र

१८. महावीर स्तुति

समय-संकेत :—आचार्य जिनपतिसूरि का जन्म वि० सं० १२१० में तथा स्वर्गारोहण सं० १२७७ में हुआ था। वे ६७ वर्ष जीये। इस प्रकार जिनपतिसूरि तेरहवीं शती के महान् वादजयी सिद्ध होते हैं।

महामनीषी उपाध्याय जिनपाल

जिनपाल खरतरगच्छ के मूर्धन्य विद्वानों में एक हुए। वे एक तर्कवादी, सिद्धान्तज्ञाता और साहित्यकार थे। न्याय, अलंकार, काव्य आदि का इन्हें गहन ज्ञान था। इन्होंने 'सनत्कुमार चरित' जैसा श्रेष्ठ महाकाव्य रचकर साहित्य-जगत में महाकवि के रूप में कीर्ति प्राप्त की। इनकी चित्र-काव्य में विशेष रुचि थी। इन्होंने अनेक मुनियों को प्रशिक्षित किया। सुमति गणि ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

नानातर्क वितर्ककर्कशलसद्वाणीकृपाणीस्फुरत्
तेजः प्रौढतरप्रहार घटनानिष्पिष्टवादिव्रजाः॥
श्री जैनागमतत्त्वभाविताधियः प्रीतिप्रसन्नाननाः
सन्तु श्रीजिनपाल इत्यलमुपाध्यायाः क्षितौ विश्रुताः॥

जीवन-वृत्त :—उपाध्याय जिनपाल के गृहस्थ जीवन के बारे में प्रबन्धकारों ने कोई सूचना नहीं दी है। यद्यपि इन्होंने अपने साधु-जीवन संबन्धी कतिपय उल्लेख तो किये हैं। गणि सुमति एवं स्वयं जिनपाल के उल्लेखानुसार जिनपाल के गुरु का नाम आचार्य जिनपतिसूरि था। इनकी दीक्षा सं० १२२५ में पुष्कर नगर में हुई थी। जिनपतिसूरि के शिष्य-समुदाय में जिनपाल प्रमुख थे। वि० सं० १२६९ में जाबालिपुर (जालोर) के विधिचैत्य में जिनपतिसूरि ने इन्हें

उपाध्याय पदारूढ़ किया। सं० १२७३ में बृहद्द्वार नगरकटीय राजा पृथ्वीचन्द्र की राजसभा में काश्मीरी पण्डित मनोदानन्द के साथ जिनपाल ने शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ का विषय था जैनदर्शन षडदर्शन से बाह्य है या नहीं। इस शास्त्रार्थ में पण्डित मनोदानन्द बुरी तरह पराजित हुए। पृथ्वीचन्द्र ने जिनपाल को विजयपत्र प्रदान किया था। इस शास्त्रार्थ का उल्लेख स्वयं जिनपाल ने युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में सविस्तार किया है।[1] 'अभयकुमारचरित' महाकाव्य के रचयिता गणि चन्द्रतिलक को जिनपाल ने ही अध्ययन करवाया था।[2] इनका स्वर्गवास सं० १३११ में हुआ था।

साहित्य-लेखन :—उपाध्याय जिनपाल ने साहित्य-संसार को अनेक ग्रन्थ-रत्न प्रदान किये। अभी तक इनके निम्न ग्रन्थ मिल सके हैं—

१. षट्स्थानक वृत्ति, रचनाकाल सं० १२६२
२. सनत्कुमार चक्रि चरित, रचना-काल सं०१२६२ से १२७८ के बीच
३. उपदेशरसायन-विवरण, रचना-काल सं० १२६२
४. द्वादशकुलक-विवरण, रचना-काल सं० १२६३
५. पञ्चलिंगी विवरण-टिप्पण (सं० १२६३)
६. धर्मशिक्षा-विवरण, रचनाकाल सं० १२६३
७. चर्चरी-विवरण, रचनाकाल सं १२६४ (अप्राप्त)
८. स्वप्नफलविवरण
९. स्वप्नविचारभाष्यवृत्ति
१०. युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, रचनाकाल १३०५, दिल्ली
११. जिनपतिसूरि पंचाशिका
१२. संक्षिप्त पौषधविधि प्रकरण

[1] द्रष्टव्य : खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ४४-५०
[2] अभयकुमार चरित, प्रशस्ति, श्लोक—३८-४०

उपर्युक्त ग्रन्थों में 'खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली'[1] एवं 'सनत्कुमार चरित'[2] महाकाव्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली' ४००० श्लोक-प्रमाण है।[3] इसमें खरतरगच्छ-परम्परा में ११वीं से १४वीं सदी में हुए आचार्यों के कर्तृत्व का विस्तृत चरित वर्णित है। डॉ० गुलाबचन्द चौधरी के शब्दों में गुरु परम्परा का इतना विस्तृत और विश्वस्त चरित वर्णन करनेवाला ऐसा कोई और ग्रन्थ अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। इसमें प्रत्येक आचार्य का जीवन चरित्र बड़े विस्तार से दिया गया है। किस आचार्य ने कब दीक्षा ली, कब आचार्य पदवी प्राप्त की, किस-किस प्रदेश में विहार किया, कहाँ-कहाँ चातुर्मास किये, किस-किस जगह कैसा धर्मप्रचार किया, कितने शिष्य-शिष्याएँ दीक्षित किये, कहाँ पर किस विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ या वाद-विवाद किया, किस राजा की सभा में कैसा सम्मान आदि प्राप्त किया, इत्यादि अनेक आवश्यक बातों का इस ग्रन्थ में बड़ी विशद रीति से वर्णन किया गया है। गुजरात, मेवाड़, मारवाड़, सिंध, बागड़, पंजाब और बिहार आदि अनेक देशों, अनेक गाँवों में रहनेवाले सैकड़ों धार्मिक और धनिक श्रावक-श्राविकाओं के कुटुम्बों का और व्यक्तियों का नामोल्लेख मिलता है, साथ ही उन्होंने कहाँ पर कैसे पूजा-प्रतिष्ठा एवं संघोत्सव आदि धर्मकार्य किये, इसका निश्चित विधान मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने ढंग की एक अनोखी कृति है। इसमें राजस्थान के अनेक राजवंशों से सम्बद्ध इतिहास-सामग्री, राजकीय हलचलें एवं उपद्रव तथा भौगोलिक बातें दी गई हैं।[4]

'सनत्कुमार चरित' पर डॉ० श्यामशंकर दीक्षित ने शोध दृष्टि से

---

[1] सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, सिन्धी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, बम्बई, सन् १९५६

[2] जिनरत्न कोश, पृष्ठ ४१२

[3] जिनरत्न कोश, पृष्ठ १०१

[4] जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-६, पृष्ठ ४५२-५३

विवेचन किया है।[1] निश्चयतः यह एक उत्तम कोटि का महाकाव्य है। इसमें चक्रवर्ती सनत्कुमार का चरित्र अत्यन्त सुन्दर ढंग से पेश किया गया है। २४ सर्गों के इस महाकाव्य में रसप्रद घटनाओं का बाहुल्य, उनका समुचित विकास तथा पात्रों का आकर्षण इसे नाटक जैसा रूप दे देता है। और आनन्द भी नाटक पढ़ने जैसा ही आता है। यह काव्य साहित्यिक तत्त्वों के दृष्टिकोण से भी एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है।

समय संकेत :—महामनीषी उपाध्याय जिनपाल का जन्म-समय अज्ञात है। उनका दीक्षा-समय सं० १२२५ एवं स्वर्गारोहण समय १३११ है। अतः ये तेरहवीं-चौदहवीं शदी के विद्वान सिद्ध होते हैं।

श्रावक-रत्न नेमिचन्द्र भाण्डागारिक

नेमिचन्द्र भाण्डागारिक एक प्रबुद्ध श्रावक थे। वे खरतरगच्छ की आचार-संहिता के प्रति निष्ठावान् थे। वे एक दानवीर तथा साहित्य-सेवी व्यक्ति थे।

जीवन-वृत्त :—नेमिचन्द्र का गोत्र भाण्डागारिक था। इनका जन्म-काल अनुपलब्ध है।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलीकार के मतानुसार ये मारवाड़ में मारोठ में रहते थे। ये आचार्य जिनपतिसूरि के भक्त थे और इन्होंने उनसे सम्यक्त्वमूल बारहव्रत ग्रहण किया था। ये विवाहित थे। उनकी पत्नी का नाम लखमिणि था। इनके पुत्र का नाम आंबड़/अम्बड़ था, जिसने जिनपतिसूरि से दीक्षावरण की थी। यह अम्बड़ गणि वीरप्रभ/आचार्य जिनेश्वरसूरि द्वितीय के नाम से वर्णित है।

नेमिचन्द्र दान धर्म के प्रति अभिरुचिशील थे। इन्होंने शास्त्र-

---

[1] द्रष्टव्य : तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृष्ठ २२२-२४६।

लेखन, मन्दिर-निर्माण/जीर्णोद्धार आदि धार्मिक कार्यों एवं अनुष्ठानों में अच्छी अर्थ-राशि व्यय की थी।

साहित्य :—श्रावक-रत्न नेमिचन्द्र भाण्डागारिक विद्वान व्यक्ति थे। साहित्य-लेखन के प्रति इनकी रूचि थी। इनके साहित्य में साहित्यिक तत्वों की ऊँचाइयाँ भी देखने को मिलती है।

उनका एक ग्रन्थ "षष्टीशतक" विशेष उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ पर लगभग १२ व्याख्या-ग्रन्थ मिलते हैं। अगरचन्द नाहटा का अभिमत है कि श्वेताम्बर समाज में किसी श्रावक द्वारा रचित किसी भी ग्रन्थ की इतनी अधिक टीकाएँ नहीं हुई।[1] इस ग्रन्थ की मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में है। उक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त भांडागारिक की जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन (पद्य ३५) और पार्श्वनाथ स्तोत्र (पद्य ६) ये रचनाएँ मिली है।

'जिनरत्न कोश' के अनुसार नेमिचन्द्र ने सं० १२१६ में 'धर्मनाथ चरित्र' एवं सं० १२१३ में 'अनन्तनाथ चरित्र' ग्रन्थ लिखे थे।

समय-संकेत :—नेमिचन्द्र भाण्डागारिक का समय तेरहवीं शदी है।

शासन-प्रभावक आचार्य जिनेश्वरसूरि (द्वितीय)

खरतरगच्छ के प्रारम्भिककाल में जिनेश्वरसूरि नाम से दो आचार्य हुए है, जिनमें प्रथम ग्यारहवीं शदी में हुए थे और द्वितीय तेरहवीं शदी में। तेरहवीं शदी में हुए जिनेश्वरसूरि 'द्वितीय' के नाम से सम्बोधित किये गये हैं।

आचार्य जिनेश्वरसूरि 'द्वितीय' एक महान् शासन-प्रभावक आचार्य हुए। इनके कर-कमलों से जिन प्रतिमाओं की विपुल प्रतिष्ठाएँ हुई, मुमुक्षुओं की दीक्षाएँ हुई।

---

[1] कुशल-निर्देश, अंक ४, १६८१।

इनके पिता एवं गुरु भी एक अच्छे लेखक थे, अतः इनमें सृजनात्मक क्षमता जन्मजात संस्कारगत थी। ये लक्षण, प्रमाण और शास्त्र-सिद्धान्त के पारगामी थे। इन्हें ३४ वर्ष की आयु में गच्छाधिपति पद मिला था। इनके शासनकाल में खरतरगच्छ में दूसरा शाखा-भेद हुआ।

इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में "श्रीजिनेश्वरसूरि चतुःसप्ततिका में परिलिखित है कि इनका जन्म विक्रम संवत् १२४५, मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष ११ को हुआ था। इनके पिता का नाम नेमिचन्द्र भाण्डागारिक था, जो मरोट निवासी थे और इनकी माता का नाम लखमिणि/लक्ष्मणा था। इनकी दीक्षा वि० सं० १२५८ चैत्रकृष्ण २ को खेड़नगर में भगवान शान्तिनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा के अवसर पर आचार्य जिनपतिसूरि के करकमलों से हुई थी। इनका दीक्षा-नामकरण वीरप्रभ हुआ। इनका गृहस्थ-नाम आम्बड़/अम्बड़ था। ये प्रथम वीरप्रभगणि और पश्चात् जिनेश्वरसूरि के नाम से ही कीर्तिमान हुए थे। वि० सं० १२६० आषाढ़ कृष्णपक्ष ६ को इनकी वृहद्दीक्षा हुई थी। वि० सं० १२७३ के पूर्ववर्ती काल में ही इन्हें गणिपद प्रदान किया जा चुका था, यह अनवगत है। हमने उक्त संवतोल्लेख वृहद्वार में सं० १२७३ में उपाध्याय जिनपाल और पंडित मनोदानन्द के बीच हुए शास्त्रार्थ के आधार पर किया है। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार वीरप्रभ भी उस शास्त्रार्थ में उपस्थित थे और उन्हें "वीरप्रभगणि" के रूप में सूचित किया गया है।

युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के संकेतानुसार आचार्य सर्वदेवसूरि ने गणि वीरप्रभ को वि० सं० १२७८, माघ शुक्ल ६ के दिन आचार्य पद से अलंकृत कर जिनपतिसूरि के पाट पर स्थापित किया। अब इनका नाम परिवर्तन कर जिनेश्वरसूरि रखा गया। यह पाट-महोत्सव अनेक दृष्टियों से अनुपम हुआ था, जिसका विस्तृत वर्णन युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में अवलोक्य है।

आचाय-पदारोहण के बाद माघ शुक्लपक्ष ६ के दिन जिनेश्वर ने सात व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान की, जो यशःकलश, विजयरुचि, बुद्धिसागर, रत्नकीर्ति, तिलकप्रभ, रत्नप्रभ और अमरकीर्ति नाम से जाने जाते हैं। पश्चात् इन सातों मुनियों को गणि जैसे गौरव पूर्ण पद से विभूषित किया गया।

जिनेश्वरसूरि श्रेष्ठि यशोधवल के साथ जाबालीपुर से भिन्नमालपुर गये। वहाँ उन्होंने ज्येष्ठ शुक्ल १२ के दिन श्रीविजय, हेमप्रभ, तिलकप्रभ, विवेकप्रभ को साधु-व्रत और चारित्रमाला, ज्ञानमाला, सत्यमाला को साध्वी-व्रत प्रदान किया। इनमें चारित्रमाला और सत्यमाला को बाद में गणिनी पदारूढ किया गया।

पश्चात् श्रेष्ठि जगद्धर की प्रार्थना स्वीकार कर जिनेश्वरसूरि श्रीमाल नगर आये, जहाँ उन्होंने आषाढ़ शुक्ल दशमी को जगद्धर द्वारा निर्मापित समवशरण की प्रतिष्ठा करवाई तथा उसमें तीर्थंकर शान्तिनाथ की प्रतिमा स्थापित की गई।

श्रीमालनगर से जिनेश्वरसूरि पुनः जाबालिपुर प्रत्यावर्तन किया। वहाँ उन्होंने जाबालिपुर में नूतन जिनालय की रचना भी प्रारम्भ करवाई। इसी नगर में ही वि० सं० १२७६ माघ शुक्ल पक्ष ५ के दिन उन्होंने अर्हद्दत्त, विवेकश्री, शीलमाला, चन्द्रमाला, विनयमाला को संयम मार्गारूढ़ किया। जिन्हें भविष्य में गणि और गणिनी पद से अभिषिक्त किया गया, क्योंकि इनके नामोल्लेख पदयुक्त प्राप्त होते हैं।

जाबालिपुर से जिनेश्वरसूरि पुनः श्रीमालनगर लौटे, जहाँ उन्होंने सं० १२८० माघ शुक्ल १२ के दिन भगवान् शान्तिनाथ के मन्दिर पर ध्वजारोपण किया और भगवान् ऋषभदेव, गौतमस्वामी, जिनपति-सूरि, मेघनाद, क्षेत्रपाल और पद्मावती देवी की मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई। इसके अतिरिक्त फाल्गुन कृष्ण प्रतिपदा को कुमुदचन्द्र, कनकचन्द्र, पूर्णश्री और हेमश्री की प्रव्रज्या हुई। इनमें पूर्णश्री और

हेमश्री—इन दोनों साध्वियों को पश्चकाल में गणिनी पद से भूषित किया गया था।

वहाँ से विहार कर जिनेश्वरसूरि प्रह्लादनपुर (पालनपुर) में आये। जहाँ पर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पंचामती स्तूप में जिनपतिसूरि की प्रतिमा की स्थापना की।

प्राप्त उल्लेखानुसार वि० सं० १२८१ वैशाख शुक्ल ६ के दिन जाबालीपुर में जिनेश्वरसूरि ने अनेक दीक्षाएँ करवाई। दीक्षितों में विजयकीर्ति, उदयकीर्ति, गुणसागर, परमानन्द और कमलश्री, कुमुदश्री के नाम प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त ज्येष्ठ शुक्ल ९ को महावीर स्वामी के मंदिर पर जिनेश्वर ने ध्वजारोपण किया।

वि० सं० १२८३ माघ कृष्ण २ के दिन जिनेश्वरसूरि ने बाड़मेर में ऋषभदेव चैत्य पर ध्वजारोहण किया। माघ कृष्ण ६ के दिन जिनेश्वर ने सूरप्रभ को उपाध्याय-पद तथा गणिनी मंगलमति को प्रवर्तिनी-पद देकर सम्मानित किया। जिनेश्वर शिष्य गणि वीरकलश, गणि नन्दिवर्धन एवं गणि विजयवर्धन का दीक्षा-दिवस एवं स्थल भी यही है।

सं० १२८४ में जिनेश्वरसूरि के बीजापुर जाने का प्रमाण मिलता है, जहाँ उन्होंने भगवान वासुपूज्य-मूर्ति की स्थापना की एवं आषाढ़ शुक्ल २ को अमृतकीर्ति, सिद्धकीर्ति, चारित्रसुन्दरी और धर्मसुन्दरी को दीक्षित किया। ये चारों परवर्ती समय में गणि/गणिनी पदारूढ़ हुए।

गणि कीर्तिकलश, गणि पूर्णकलश तथा गणिनी उदयश्री को जिनेश्वरसूरि ने वि० सं० १२८५, ज्येष्ठशुक्ल द्वितीय को निर्ग्रन्थ/निर्ग्रन्थनी बनाया था। ऐसा उल्लेख गुर्वावलीकारों ने किया है। ज्येष्ठ शुक्ल ९ को बीजापुर में ही वासुपूज्य स्वामी के मन्दिर के शिखर पर ध्वजारोपण किया।

सं० १२८६ में भी जिनेश्वरसूरि बीजापुर में ही थे, क्योंकि इस नगर में ही सं० १२८६, फाल्गुनकृष्ण ५ के दिन उन्होंने विद्याचन्द्र, न्यायचन्द्र तथा गणि अभयचन्द्र को श्रमण धर्म में प्रव्रजित किया।

सं० १२८७ में जिनेश्वरसूरि प्रह्लादनपुर गये थे और फाल्गुन शुक्ला ५ को जयसेन, देवसेन, प्रबोधचन्द्र, अशोकचन्द्र और कुलश्री, प्रमोदश्री को दीक्षा प्रदान की।

सं० १२८८, भाद्रशुक्ला १० के दिन जाबालिपुर में स्तूप-ध्वज की प्रतिष्ठा करवाई। पौष शुक्ला एकादशी को जालोर में शरचन्द्र, कुशलचन्द्र, कल्याणकलश, प्रसन्नचन्द्र, गणि लक्ष्मीतिलक, वीरतिलक, रत्नतिलक, धर्ममति, विनयमति, विद्यामति, चारित्रमति प्रभृति ने जिनेश्वरसूरि से प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

ज्येष्ठ शुक्ला १२ के दिन जिनेश्वर ने चित्तौड़ में अजितसेन, गुणसेन, अमृतमूर्ति, धर्ममूर्ति, राजीमति, हेमावली, कनकावली, रत्नावली तथा मुक्तावली को जैन भागवती दीक्षा अनुदान की। वहीं पर आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के दिन तीर्थंकर ऋषभदेव, नेमिनाथ पार्श्वनाथ की मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। ये मूर्तियाँ श्रेष्ठि लक्ष्मीधर एवं श्रेष्ठि राल्हा द्वारा अर्थप्रदान कर बनवाई गयी थी। इनमें लक्ष्मीधर ने प्रतिष्ठावसर पर भी विशेष राशि व्यय की।

वि० सं० १२८९ में जिनेश्वरसूरि ने ठाकुर अश्वराज और श्रेष्ठि राल्हा की सहायता से उज्जयन्त, शत्रुंजय, स्तम्भनक तीर्थ (खम्भात) में यमदण्ड नामक दिगम्बर विद्वान के साथ उनकी पण्डित गोष्ठ हुई। यहीं पर विख्यात महामात्य वस्तुपाल ने अपने कुटुम्ब के साथ आकर जिनेश्वरसूरि की अर्चना की। ऐसा संकेत पट्टावलियों में दिया गया है।

सं० १२९१ में जिनेश्वरसूरि पुनः जाबालिपुर आये थे। क्योंकि उसी वर्ष वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जाबालिपुर में इन्होंने यति-

कलश, क्षमाचन्द्र, शीलरत्न, धर्मरत्न, चारित्ररत्न, गणि मेघकुमार, गणि अभयतिलक, श्रीकुमार, गणिनी शीलसुन्दरी, चन्दनसुन्दरी को विधी-विधान पूर्वक दीक्षा देने के उल्लेख मिलते हैं। ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया रविवार को उन्होंने विजयदेव को आचार्य पद से विभूषित किया।

सं० १२६४ में जिनेश्वरसूरि ने मुनि संघहित को उपाध्याय पद दिया।

सं० १२६६, फाल्गुन कृष्णा पंचमी को प्रह्लादनपुर में आपने प्रमोदमूर्ति, प्रबोधमूर्ति और देवमूर्ति को प्रव्रज्या प्रदान की और ज्येष्ठ शुक्ला दसमी को उसी नगर में भगवान शान्तिनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई। यह मूर्ति सम्प्रति पाटण में है।

सं० १२६७ में भी जिनेश्वरसूरि प्रह्लादनपुर में ही प्रवासित थे। कारण, देवतिलक और धर्मतिलक इन दोनों की दीक्षा इसी वर्ष की चैत्र शुक्ला चतुर्दशी के दिन प्रह्लादनपुर में हुई थी।

सं० १२६८ वैशाख शुक्ला एकादशी को जाबालिपुर में आपकी सान्निध्यता में महामन्त्री कुलधर ने जिनचैत्य में स्वर्णदण्ड ध्वजारोपण किया। यही कुलधर वैराग्यवासित होकर सं० १२६६, प्रथम आश्विन मास की द्वितीया को जिनेश्वरसूरि से दीक्षित हुआ। कुलधर का दीक्षावस्था का नाम मुनि कुलतिलक घोषित हुआ। दीक्षा-महोत्सव अनुपमेय रहा।

वि० सं० १३०४, वैशाख शुक्ला १४ के दिन जिनेश्वरसूरि ने गणि विजयवर्धन को आचार्य पदारूढ़ किया, जिनका नाम परिवर्तित कर आचार्य जिनरत्नसूरि रखा गया। इस अवसर पर त्रिलोकहित, जीवहित, धर्माकर, हर्षदत्त, संघप्रमोद, विवेकसमुद्र, देवगुरुभक्त, चारित्रगिरि, सर्वज्ञभक्त और त्रिलोकानन्द को संयममार्गारूढ़ किया।

सं० १३०५, आषाढ़ शुक्ला १० को प्रह्लादनपुर में जिनेश्वरसूरि

ने ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी की प्रतिमाओं तथा नंदीश्वर तीर्थपट्ट की प्रतिष्ठा करवाई। इसी प्रतिष्ठा की भगवान् ऋषभ की दो प्रतिमाएँ घोघा के जैन मन्दिर में विद्यमान हैं। जिनके अभिलेख घोघाना अप्रकट जैन प्रतिमा लेखो, निबन्धान्तर्गत महावीर जैन विद्यालय, बम्बई के स्वर्ण जयन्ती-महोत्सव ग्रन्थ में प्रकाशित है।

सं० १३०६, ज्येष्ठ शुक्ला १३ के दिन श्रीमालनगर में जिनेश्वर-सूरि ने कुन्थुनाथ और अरनाथ की मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा की। श्रेष्ठि धीधार के निवेदन पर दुबारा ध्वजारोपण किया।

सं० १३०९ मार्गशीर्ष शुक्ला १२ को जिनेश्वरसूरि ने समाधि-शेखर, गुणशेखर, देवशेखर, साधुभक्त वीरवल्लभ और मुक्तिसुन्दरी को दीक्षा दी और उसी वर्ष माघ शुक्ला १० को शान्तिनाथ, अजित-नाथ, धर्मनाथ, वासुपूज्य, मुनिसुव्रत, सीमन्धर स्वामी, पद्मप्रभ प्रभृति तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाई। जिसमें श्रेष्ठि विमलचन्द सा० हीरा आदि ने विशेष अर्थ व्यय किया।

वि० सं० १३११ वैशाख शुक्ला ६ को प्रह्लादनपुर में चन्द्रप्रभ स्वामी के विधिचैत्य में भीमपल्ली नगर के मन्दिर में स्थित महावीर की प्रतिमा की प्रतिष्ठा श्रेष्ठि भुवनपाल ने अपने निजोपार्जित धन के व्यय से कराई। संघ समुदाय की ओर से ऋषभदेव स्वामी की, बोहित्य श्रावक की ओर से अनन्तनाथ स्वामी की, मोल्हाक नामक श्रावक द्वारा अभिनन्दन स्वामी की, आम्बा भ्राता भावसार केल्हण की ओर से बाहड़मेर के लिए नेमिनाथ स्वामी की, सेठ हरिपाल के लघु भ्राता श्रेष्ठि कुमारपाल की तरफ़ से जिनदत्तसूरि की प्रति-माओं की प्रतिष्ठा जिनेश्वरसूरि द्वारा करवाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

सं० १३११ में वैशाख शुक्ला ११ को जाबालीपुर (जालोर) में, जिनेश्वरसूरि ने चारित्रवल्लभ, हेमपर्वत, अचलचित्त, लोभनिधि, मोदमन्दिर, गजकीर्ति, रत्नाकर, गतमोह, देवप्रमोद, वीरानन्द,

विगतदोष, राजललित, बहुचरित्र, विमलप्रज्ञ और रत्ननिधान इन पन्द्रह साधुओं को प्रव्रज्या धारण कराई। इनमें चारित्रवल्लभ और विमलप्रभ पिता-पुत्र थे। इसी वर्ष वैशाख की त्रयोदशी के दिन उन्होंने भगवान महावीर के विधिचैत्य में राजा उदयसिंह आदि लोगों की उपस्थिति में राजमान्य महामन्त्री के तत्वावधान में प्रह्लादनपुर (पालनपुर), वागड़ आदि स्थानों के प्रमुख श्रावकों की सन्निधि में चौबीसी जिनालय, एक सौ सत्तर तीर्थंकर, सम्मेतशिखर, नन्दीश्वर द्वीप, महावीर स्वामी, सुधर्मा स्वामी, जिनदत्तसूरि, सीमंधर, युगमंधर आदि की नाना प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाई। इस अवसर पर गणिनी प्रमोदश्री को महत्तरा उपाधि देकर लक्ष्मीनिधि नाम दिया तथा ज्ञानमाला गणिनी को प्रवर्त्तिनी पद प्रदान किया गया। यह प्रतिष्ठा क्रिया जालोर में हुई हो, ऐसा सम्भव है।

तत्पश्चात् सं० १३१२ वैशाख सुदि पूर्णिमा के दिन जिनेश्वरसूरि द्वारा गणि चन्द्रकीर्त्ति को उपाध्याय पद प्रदान किया गया और चन्द्रतिलकोपाध्याय नव नामकरण किया गया। उसी अवसर पर गणि प्रबोधचन्द्र और गणि लक्ष्मीतिलक को वाचनाचार्य पद से सम्मानित किया गया इसके बाद जेठ कृष्णा प्रतिपदा को उपशमचित्त, पवित्रचित्त, आचारनिधि और त्रिलोकनिधि को प्रव्रज्या धारण करवाई गई।

सं० १३१३ फाल्गुन सुदि चतुर्थी को जालोर में आपने स्वर्णगिरि शिखर स्थित मन्दिर में वाहित्रिक उद्धरण नामक श्रावक द्वारा कारित भगवान् शान्तिनाथ की मूर्ति की स्थापना की। चैत्र सुदि चतुर्दशी को आपके द्वारा कनककीर्ति, त्रिदशकीर्ति, विबुधराज, राजशेखर, गुणशेखर तथा जयलक्ष्मी, कल्याणनिधि, प्रमोदलक्ष्मी और गच्छ-वृद्धि की दीक्षा हुई। इसके बाद स्वर्णगिरि शिखर स्थित मन्दिर में प्रभू और मूलिग नामक श्रावकों ने आपके कर कमलों से वैशाख

कृष्णा प्रतिपदा को अजितनाथ की प्रतिमा की स्थापना करवायी। प्रह्लादनपुर में आषाढ़शुक्ला १० के दिन इनके द्वारा भावनातिलक और भरतकीर्ति को दीक्षा दी गई और उसी दिन आपके द्वारा भीमपल्ली में महावीर स्वामी की प्रतिमा की स्थापना हुई।

सं० १३१४ माघ सुदि १३ को इस नगरी के किल्ले पर निर्मित मुख्य मन्दिर पर ध्वजा चढाई गई। यह कार्य राजा उदयसिंह की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ था। तदनन्तर प्रह्लादनपुर में अग्रिमवर्ष की आषाढ़ शुक्ला १० को सकलहित, राजदर्शन एवं बुद्धिसमृद्धि, ऋद्धिसुन्दरी, रत्नवृष्टि को दीक्षा दी गई।

सं० १३१६ माघ शुक्ला १४ के दिन जिनेश्वरसूरि ने जालोर में धर्मसुन्दरी गणिनी को प्रवर्त्तिनी पद तथा माघ शुक्ला ३ को पूर्णशेखर, कनकलश को प्रव्रज्या दी। माघ शुक्ला ३ के दिन नरेश चाचिगदेव के राजत्व में पभू और मूलिग नामक श्रावकों ने इनसे स्वर्णगिरि में श्री शान्तिनाथ स्वामी के मन्दिर पर स्वर्णमयकलश और ध्वजदण्ड का आरोपण कराया। इसी प्रकार सोमचन्द्र नाम के मन्त्री ने बीजापुर में आषाढ़ शुक्ला ११ के दिन भगवान वासुपूज्य के मन्दिर पर स्वर्णकलश और स्वर्ण ध्वजदण्ड चढ़ाये।

सं० १३१७ मिगसिर शुक्ला ७ के दिन जिनेश्वरसूरि द्वारा गणि अभयतिलक को उपाध्याय पद दिया गया। उसी वर्ष पं० देवमूर्ति आदि साधुओं को साथ लेकर उपाध्याय अभयतिलक उज्जैन गये, वहाँ पर पंडित विद्यानन्द के साथ हुए विवाद में "प्राशुकं शीतलं जलं यति कल्प्यम्" इस तथ्य को अनेक सिद्धान्तों के बल से अपने पक्ष का स्थापन करके अभयतिलक ने राजसभा में जय-पत्र प्राप्त किया। सं० १३१७ पौषसुदि तृतीया के दिन आपने संघभक्त को दीक्षा और धर्ममूर्ति गणि को वाचनाचार्य पद दिया। सं० १३१७ माघ कृष्णा पंचमी को साध्वी विजयसिद्धि की दीक्षा हुई। माघ कृष्णा ६ को

को चन्द्रप्रभस्वामी अजितनाथ और सुमतिनाथ की प्रतिमा की श्रेष्ठि बुधचन्द्र ने आप से प्रतिष्ठा करवाई। श्रेष्ठि भुवनपाल ने ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा, श्रेष्ठि जसधर के पुत्र जीविग ने धर्मनाथस्वामी की प्रतिमा, रत्न और पेथड़ ने सुपार्श्व स्वामी की प्रतिमा, श्रेष्ठि हरिपाल और उसके भाई कुमारपाल ने जिनवल्लभसूरि प्रतिमा और सिद्धान्तयक्षमूर्ति की स्थापना एवं प्रतिष्ठा कराई। श्रेष्ठि अभयचन्द्र ने श्रीपत्तन में अक्षय तृतीया के दिन शान्तिनाथ देव के मन्दिर पर दण्डकलश चढ़ाये।

सं० १३१७ माघ सुदी १२ को जिनेश्वरसूरि ने गणि लक्ष्मीतिलक को उपाध्याय पद प्रदान किया तथा पद्माकर नाम के व्यक्ति को दीक्षा दी गई। माघ शुक्ला १४ के दिन आचार्य की आज्ञानुसार जावाली-पुर के शोभावर्द्धक महावीर जिनेन्द्र के मन्दिर में स्थापित चौबीस देवकुलिकाओं पर पंचायत की ओर से सुवर्णकलश और स्वर्णध्वजदण्ड चढ़ाये गये। फाल्गुन शुक्ला १२ को शान्तपुर में इनकी सानिध्यता में अजितनाथ स्वामी के मन्दिर में ध्वजदण्ड की प्रतिष्ठा और ध्वजारोहण किया गया। इसी प्रकार भीमपल्ली में राजा मांडलिक के राजत्वकाल में वैशाख सुदी १० सोमवार के दिन राज्य के प्रधान दण्डनायक श्रीमीलगण (? सीलण) की सन्निधि में श्रेष्ठि खीमड़ के पुत्र श्रेष्ठि जगद्धर और पौत्र भुवनराय ने अपने कुटुम्ब व संघ समुदाय के साथ वर्द्धमान स्वामी के "मन्दिरतिलक" नामक मन्दिर पर स्वर्णदण्ड और स्वर्णकलश चढ़वाये और उनकी प्रतिष्ठा भी उसी दिन करवायी। इसके अतिरिक्त वहाँ पर और भी अनेक जिन प्रतिमा व देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा करवाई गयी थी। जिनमें श्रेष्ठि हरिपाल और कुमारपाल द्वारा निर्मापित सुबुद्धि देनेवाली और एकावन अंगुल प्रमाण "सरस्वती" प्रतिमा का नाम उल्लेखनीय है। श्रेष्ठि राजदेव ने भगवान शान्तिनाथ प्रतिमा, श्रेष्ठि मूलदेव और क्षेमंधर ने ऋषभदेव प्रतिमा, श्रेष्ठि सावदेव के पुत्र पूर्णसिंह ने महावीर

स्वामी की प्रतिमा, पूनाणी ऊहा ने चौबीस तीर्थंकरों के पट्ट और अजितनाथ स्वामी की प्रतिमा, श्रेष्ठि बालचन्द्र ने ऋषभदेव की प्रतिमा, श्रेष्ठि भावड़ के पुत्र धांधल ने शान्तिनाथ की प्रतिमा, बोथरा शान्तिग ने ऋषभदेव की प्रतिमा, आसनागने महावीर स्वामी की तीन प्रतिमाएँ, श्रेष्ठि साढल के पुत्र धनपाल ने शान्तिनाथ की प्रतिमा, श्रेष्ठी भाजाक ने दादाजिनदत्तसूरि और चन्द्रप्रभस्वामी की प्रतिमा, श्रेष्ठि हरिपाल तथा कुमारपाल ने नेमिनाथ की प्रतिमा श्रेष्ठि रूपचन्द के पुत्र नरपति ने स्तंभनक पार्श्वनाथ की प्रतिमा, श्रेष्ठि धनपाल ने चण्डे की प्रतिमा और अम्बिका देवी की प्रतिमा श्री संघ ने स्थापित करवाई। द्वादशी के दिन सौम्यमूर्ति और न्यायलक्ष्मी नामक साध्वियों की दीक्षा करवाई गई।

सं० १३२१ फागुन शुक्ला २ गुरुवार को चित्तसमाधि और शान्तिनिधि नामक आर्याओं की दीक्षा हुई। सं० १३२१ फाल्गुन कृष्ण ११ को प्रह्लादनपुर में जिनेश्वर ने तीन प्रतिमाओं और ध्वजदण्ड की प्रतिष्ठा की। बाद में जैसलमेर के श्रीसंघ की प्रार्थना से जैसलमेर पहुँचे और वहाँ पर ज्येष्ठ शुक्ला १२ के दिन श्रेष्ठि यशोधवल द्वारा निर्मित जिनमंदिर के शिखर पर दण्डध्वज रोपण किया और पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा को स्थापित की। सं० १३२१ ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा के दिन विक्रमपुर में चारित्रशेखर, लक्ष्मीनिवास तथा रत्नावतार नामक तीन साधुओं को दीक्षा दी।

सं० १३२२ माघ शुक्ला १४ को विक्रमपुर में जिनेश्वरसूरि ने त्रिदशानन्द, शान्तमूर्ति, त्रिभुवनानन्द, कीर्त्तिमण्डल, सुबुद्धिराज, सर्वराज, वीरप्रिय, जयवल्लभ, लक्ष्मीराज हेमसेन तथा मुक्तिवल्लभा, नेमिभक्ति, मंगलनिधि, प्रियदर्शना को तथा विक्रमपुर में ही वैशाख सुदि ६ को वीरसुन्दरी को दीक्षित किया।

सं० १३२३, वैशाख शुक्ला १३ के दिन गणि देवमूर्ति को

वाचनाचार्य पद दिया। आषाढ़ कृष्णा १ के दिन आपने हीराकर को साधु पद प्रदान किया।

सं० १३२३ मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को जिनेश्वर ने नामध्वज को साधु और विनयसिद्ध तथा आगमसिद्धि को साध्वी बनाया।

सं० १३२४ मार्गशीर्ष कृष्णा २ शनिवार के दिन कुलभूषण, हेमभूषण, अनन्तलक्ष्मी, व्रतलक्ष्मी, एकलक्ष्मी, प्रधानलक्ष्मी को दीक्षित किया। यह दीक्षा महोत्सव जावालीपुर (जालोर) में हुआ था।

सं० १३२५ वैशाख शुक्ला १० को जावालीपुर में ही महावीर विधि चैत्य में प्रह्लादनपुर, खंभात, मेवाड़ उच्चा, वागड आदि स्थानों से समागत समुदायों के मध्य व्रत ग्रहण, मालारोपण, तथा सामायिक ग्रहण विस्तार से की गई। वहाँ पर गजेन्द्रबल नामक साधु तथा पद्मावती नाम की साध्वी बनाई गई। वैशाख शुक्ला १४ के दिन जिनेश्वरसूरि के करकमलों से महावीर विधिचैत्य में चौबीस जिनप्रतिमाओं की, चौबीस ध्वजदण्डों की, सीमंधर युगमंधर, बाहु-सुबाहु एवं अन्य अनेक जिनमूर्तियोंकी प्रतिष्ठा बड़े विस्तार से हुई और ज्येष्ठ कृष्णा ४ के दिन स्वर्णगिरि किल्ले में स्थित शांतिनाथ विधिचैत्य में उन प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की स्थापना की। इसी दिन गणि धर्मतिलक को वाचनाचार्य का पद दिया गया। वैशाख शुक्ला १४ को जैसलमेर के पार्श्वनाथ विधिचैत्य में श्रेष्ठि नेमिकुमार और श्रेष्ठि गणदेव द्वारा निर्मापित सुवर्ण दण्ड और सुवर्ण कलशारोपण महोत्सव किया गया।

वि० सं० १३२६ में संघपति श्रेष्ठि अभयचन्द और मनि अजित सुत देदाक ने प्रह्लादनपुर से आपकी अध्यक्षतामें शत्रुंजय, उज्जयन्त आदि तीर्थों की यात्रार्थ एक महासंघ निकाला। उस संघ में २३ साधु १३ साध्वी और सैकड़ों श्रावक सम्मिलित थे। इसमें लाखों रुपये व्यय

हुए। इस चतुर्विध संघ का वर्णन पट्टावलियों में सविस्तार वर्णित है। जिनेश्वरसूरि ने "युगप्रधानाचार्य गुर्वावली" आदि पट्टावलियों में संघ में भाग लेने वाले व्यक्तियों, उनके द्वारा किये गये कार्यों और आय-व्यय के सम्बन्ध में एतिहासिक जानकारी दी है।

उसके बाद सं० १३२८ बैशाख शुक्ला चतुर्दशी के दिन जालोर में आपकी निश्रा में श्रेष्ठि क्षेम सिंह ने चन्द्रप्रभस्वामी की बड़ी मूर्त्ति की, महामन्त्री पूर्ण सिंह ने ऋषभदेव प्रतिमा की और मन्त्री ब्रह्मदेव ने महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा का महोत्सव किया। ज्येष्ठ कृष्णा ४ के दिन हेमप्रभा को साध्वी बनाया। सं० १३३० बैशाख कृष्णा ६ को गणि प्रबोधमूर्ति वाचनाचार्य को पद और गणिनी कल्याण ऋद्धि को प्रवर्त्तिनी का पद दिया। तदनन्तर बैशाख कृष्णा अष्टमी को सुवर्ण गिरि में चन्द्रप्रभ स्वामी की बड़ी प्रतिमा की स्थापना चैत्य के शिखर में की।

एक दिन जिनेश्वरसूरि ने अपना निधन-काल निकट जानकर वाचनाचार्य प्रबोधमूर्त्ति को सं० १३३१ आश्विन बदि पंचमी को अपने पाट पर स्वहस्त से अभिषिक्त कर उनका नाम जिन प्रबोधसूरि दिया। अनेक प्रकार से शासन-प्रभावना करते हुए सं० १३३१, आश्विन कृष्णा ५ (६ का भी उल्लेख मिलता है) को आपका स्वर्गवास हो गया। प्राप्त उल्लेखानुसार जिनेश्वरसूरि की अन्त्येष्टि-भूमि पर श्रेष्ठि क्षमसिंह ने एक विशाल स्तूप बनवाया था।

साहित्य :—आचार्य जिनेश्वरसूरि ने जिस प्रकार अपने जीवन में अनेक दीक्षाएँ और प्रतिष्ठाएँ कराई, उसी प्रकार उन्होंने अनेक ग्रन्थ भी निबद्ध किये थे। उनका निम्न साहित्य प्राप्त है :—

१. श्रावकधर्मविधिप्रकरण

२. आत्मानुशासन

३. द्वादशभावनाकुलक

४. सर्वतीर्थमहर्षिकुलक

५. चन्द्रप्रभचरित्र

६. यात्रास्तव

७. रुचितरुचिदण्डकस्तुति

८. चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र

९. चतुर्विंशति जिन स्तवस्तोत्र

१०. वासुपूज्य यमकमय स्तोत्र

११. पार्श्वनाथ स्तोत्र

१२. पार्श्वस्तोत्र

१३. बावरी

१४. वीरजन्माभिषेक

१५. पालनपुरवासुपूज्य बोली

१६. वीसलपुरवासुपूज्य बोली

१७. शान्तिनाथ बोली

स्वतन्त्र लेखन के अतिरिक्त जिनेश्वर 'द्वितीय' ने अन्य लेखकों के ग्रन्थों को संशोधित भी किया था। १०१३० श्लोक-परिमाण में निबद्ध 'प्रत्येक बुद्ध चरित' महाकाव्य का संशोधन इन्होंने ही किया था। इस ग्रन्थ के कर्ता जिनरत्नसूरि लक्ष्मीतिलक हैं।

समय-संकेत :—आपका जन्म सं० १२४५ में हुआ एवं स्वर्गारोहण सं० १३३१ में। अतः ये तेरहवीं-चौदहवीं शदी के शासन-प्रभावक आचार्य सिद्ध होते हैं।

धर्मानुरागी श्रेष्ठि अभयचन्द्र

श्रेष्ठि अभयचन्द्र अत्यन्त धनाढ्य, कर्मवीर तथा दानवीर हुए। आपकी धर्मनिष्ठता की छाप स्वयं खरतरगच्छाचार्यों पर थी। उन्होंने इनकी धर्म-भावना की मुक्तकण्ठ से अभ्यर्थना की है।

जीवन-वृत्ति :—श्रेष्ठि अभयचन्द्र का जन्म-समय अज्ञात है। इनके पिता का नाम श्रेष्ठि भुवनपाल था और वे प्रह्लादनपुर निवासी थे। इन्होंने सं० १३२६ में आचार्य जिनेश्वरसूरि "द्वितीय" के सन्निधान में शत्रुंजय उज्जयन्त आदि विविध तीर्थों की यात्रार्थ एक चतुर्विध महासंघ निकाला, जिसमें श्रेष्ठि ने लाखों रुपये व्यय किये। प्रतिष्ठा, दीक्षा आदि समारोहों में भी इनका अर्थ सहयोग रहा।

श्रेष्ठि अभयचन्द्र के सम्बन्ध में अन्य कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु पट्टावलियों में इनकी गुण-गाथा मुक्त-कण्ठ से गायी है—

सुमेरौ निर्मेररपि सपदि जग्मे तरुघरे,
घुंगव्या दिव्यन्ते सलिलनिधौ चिन्तामणि गणेः।
कलौकालेवीक्ष्या नवधिमभितो याचकगणम्,
न तस्थौ केनडिप स्थिरमभयचन्द्रस्तु विजयी।
धैर्य ते स विलोकताम भय[1] यः शैलेन्द्र धैर्यात्मिना,
गाम्भीर्यं स तवेक्षतां जलनिधेर्गाम्भीर्य मिच्छरच यः।
भक्तिं देवगुरौ स पश्यतु तव श्री श्रेणिकं य स्तुते,
यात्रां तीर्थपतेः स चेत्तु भवतो यः साम्प्रती क्षीप्सति।

समय-संकेत :—श्रेष्ठि अभयचन्द्र का समय तेरहवीं शदी का उत्तरार्ध एवं चौदहवीं शदी का पूर्वार्ध है।

उपसंहार :—पूर्ववर्ती पृष्ठों में खरतरगच्छ के आदिकालीन इतिहास के अनुशीलनात्मक अध्ययन के उपरान्त निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि खरतरगच्छ जैन धर्म की विशुद्ध मान्यताओं को प्रस्थापित एवं प्रसारित करने वाला एक जागरूक आम्नाय है। विक्रम की ग्यारहवीं शदी में क्रान्तिकारी परिवेश में विकसित इस गच्छ ने

---

१ युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि

अपनी अमृत गंगा से समाज के उपवन को सिंचन देकर सरसब्ज बनाया है। धर्म संघ में परिव्याप्त विषैले वातावरण को स्वस्थ करने में इस गच्छ का अनुदान अप्रतिम है। भारतीय संस्कृति इसके अभाव में स्वयं को अपूर्ण पाएगी और इसके अवदानों के लिए कृतज्ञतापूर्वक अभिनन्दन करती रहेगी।

भारतीय चिन्तन, साहित्य एवं साधना के क्षेत्र में खरतरगच्छ की छवि सदा सर्वतोमुखी उजली रही। इसमें हुए महान् गुरुजन आचार्य, समाज-सुधारक प्राणपण से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के लिए समर्पित रहे। भारतीय चिन्तन, साहित्य एवं साधना के क्षेत्र उनका कर्तृत्व तिमिर में दिग्भ्रमित जीवन के लिए शाश्वत प्रकाश स्तम्भ है। जहाँ एक ओर उन्होंने भारतवर्ष के इतिहास को प्रभावित किया, विभिन्न प्रदेशों में पद-यात्राए कर सद्विचारों की वर्ण-शैली में सदाचार का प्रवर्तन किया, राजाओं बादशाहों को सम्प्रेरित कर उनके राज्यों को अहिंसामय बनाया, जैनीकरण एवं गोत्र निर्माण का विश्व-कीर्तिमान स्थापित किया, वहीं उन्होंने दर्शन; साहित्य, काव्य-शास्त्र, व्याकरण, मन्त्र-शास्त्र आदि वाङ्मय के समस्त महत्त्वपूर्ण पहलुओं को उजागर किया। उनके सभी कार्य धार्मिक, व्यवस्थामूलक तथा नैतिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हैं। निश्चय ही, प्रस्तुत इतिहास इस आर्य देश की सच्चरित्रता को बनाये रखने के लिए सदा-सर्वदा आलोक-वर्तिका रूप रहेगा।

यदि हम खरतरगच्छ के आदिकालीन इतिहास को वर्तमान परिपेक्ष्य में देखें, तो हमें लगेगा कि हमारा अतीत जितना उज्ज्वल, जितना उच्च, जितना महान था क्या उस उज्ज्वलता, उच्चता तथा महानता को हम आज यथार्थतः संजोकर रख पाए हैं।

हमारे पूर्वजों ने जो ज्ञान की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित की, साधना का दिव्य आलोक बिखेरा, योग की निरुपम विभूतियाँ उपलब्ध की,

उस शृंखला में हमारी गतिशीलता किस सीमा तक है ? अवश्य ही हमें आत्मावलोकन करना होगा। हम उस अनुपम-अप्रतिम विरासत के धनी हैं, जिसने कभी समग्र भारतीय जीवन को आन्दोलित कर डाला था। उस विरासत से यदि हम ही प्रेरणा न लें, तो औरों से आशा ही कैसे करें। अतएव अपने पूर्व पुरुषों के परम पवित्र जीवन से प्रेरणा के रूप में शक्ति-संचय कर हम ज्ञान और साधना के पथ पर अग्रसर होएँ, जिसे स्थापित करने के लिए खरतरगच्छ ने क्रान्ति की थी और अपना अस्तित्व पाया था।

महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास

अखिल भारतीय खरतरगच्छ महासंघ, दिल्ली